UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180996

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/D58Re Accession No. G.H.9912

Author Reghl-1

Title Reghl-1 1944

This book should be returned on or before the date last marked below.

'रेणुका'

'दिनकर'

# सुन्दर साहित्य-माला

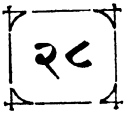


सम्पादक
श्रीरामलोचनशरण
[ 'बालक'-सम्पादक ]

## सुन्दर साहित्य-माला

| | | |
|---|---|---|
| १ | पद्यप्रसून ( महाकवि 'हरिऔध' ) | १॥) |
| २ | दागे जिगर ( श्रीरामनाथ 'सुमन' ) | १।) |
| ३ | निर्माल्य ( श्रीमोहनलाल महतो गयावाल 'वियोगी' | १) |
| ४ | सौरभ ( श्रीरामाज्ञा द्विवेदी 'समीर', एम० ए० ) | १) |
| ५ | कविरत्न 'मीर' ( श्रीरामनाथ 'सुमन' ) | १॥) |
| ६ | बिहार का साहित्य ( दस साहित्यिकों के भाषण ) | १॥) |
| ७ | देहाती दुनिया ( श्रीशिवपूजनसहाय ) | १॥) |
| ८ | प्रेमपथ ( श्रीभगवतीप्रसाद बाजपेयी ) | २) |
| ९ | नवीन वीन ( स्वर्गीय लाला भगवान 'दीन' | २) |
| १० | प्रेमिका ( स्वर्गीय पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्मा ) | २) |
| ११ | विमाता ( श्रीअवधनारायणलाल ) | २) |
| १२ | एकतारा श्रीमोहनलाल महतो गयावाल 'वियोगी' ) | १) |
| १३ | विभूति ( श्रीशिवपूजनसहाय ) | २) |
| १४ | अशोक ( श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र, बी. ए. ) | १।) |
| १५ | नवपल्लव ( श्रीविनोदशंकर व्यास ) | १।) |
| १६ | सुधासरोवर ( स्वर्गीय श्रीदामोदरसिंह 'कविकिङ्कर' ) | १) |
| १७ | किसलय ( श्रीजनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', एम ए. ) | १॥) |
| १८ | दुर्गादत्त परमहंस ( प्रोफेसर अक्षयवट मिश्र ) | १॥) |
| १९ | वाग्विलास ( स्वर्गीय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी | १॥) |
| २० | रसकलस ( महाकवि 'हरिऔध' ) | ४) |
| २१ | कैलास-दर्शन ( श्रीशिवनन्दन सहाय, बी. ए. ) | १॥) |
| २२ | आदर्श राघव स्व० श्रीउदितनारायणदास, बी. ए., बी. एल. ) | ॥) |
| २३ | उत्तराखंड के पथ पर ( प्रोफेसर मनोरंजन, एम. ए. ) | २॥) |
| २४ | कामना ( स्वर्गीय श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ) | १॥) |
| २५ | आवारे की यूरोपयात्रा ( डाक्टर सत्यनारायण, पी. एच० डी० ) | २।) |
| २६ | छाया ( स्वर्गीय श्रीजयशंकर 'प्रसाद' ) | १) |
| २७ | कानन कुसुम ( ,, ,, ) | १) |

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

# रेणुका

'दिनकर'

'दिनकर' की पंक्तियों को मैंने पढ़ा है, और उनकी कविता में प्रतिबिम्बित होनेवाली मनोदशा को पढ़कर मैं कह सकता हूँ कि उनमें एक अत्यन्त मीठा कवि, अपने हृदय के मस्ताने वैभव को लेकर, छुपा बैठा है। 'दिनकर' से इतिहास अपनी सम्पूर्ण वेदनाओं को लेकर बोलता है।

—( भूमिका, प्रथम संस्करण )

प्रकाशक
पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय और पटना

[ सर्वाधिकार सुरक्षित ]

प्रथम संस्करण—रथयात्रा १९९२, जुलाई १९३५
द्वितीय संस्करण—श्रावणी १९९६, अगस्त १९३९
तृतीय संस्करण रक्षा-बंधन २००१, अगस्त १९४४

मूल्य ३)

[ परिवर्त्तित, परिवर्द्धित एवं परिष्कृत संस्करण ]
मुद्रक—ना० रा० सोमण, विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय

# द्वितीय संस्करण

विश्वब्रह्मांड-महाकाव्य के रचयिता की दया से 'रेणुका' का यह द्वितीय संस्करण, प्रथम संस्करण की अपेक्षा, विशेष परिष्कृत रूप में प्रकाशित किया गया है। कवि ने आवश्यक संशोधन एवं संवर्द्धन करके आत्मसंतोष प्राप्त किया, हमने यथाशक्य सुसज्जित एवं आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया।

इस संस्करण में प्रथम संस्करण की दो कविताएँ नहीं हैं—'धूल के हीरे' और 'श्रांत गीत'—स्वयं कवि ने ही उन्हें निकाल दिया है और उनके स्थान में पाँच नई कविताएँ जोड़ दी हैं—शब्दवेध, राजा-रानी, याचना, विरह-योगिनी और प्रेम का सौदा। किन्तु निकली हुई कविता भी विवर्द्धित रूप में दूसरी पुस्तक के द्वारा पाठकों के समक्ष उपस्थित होगी।

इस संस्करण में प्रथम संस्करण की भूमिका भी निकाल दी गई है। यशस्वी 'कर्मवीर'-सम्पादक आदरणीय चतुर्वेदीजी ने आरम्भ में इस पुस्तक की जो भूमिका लिख भेजी थी, वह जब प्रथम संस्करण में छप चुकी, तब उन्होंने एक दूसरी भूमिका भेजकर आज्ञा दी कि यही प्रकाशित की जाय; पर पुस्तक के प्रकाशित हो जाने के कारण उनकी आज्ञा का पालन न हो सका। किन्तु उसी समय क्षमा-प्रार्थनापूर्वक उनसे निवेदन कर दिया गया कि यह दूसरी भूमिका आगामी द्वितीय संस्करण में प्रकाशित कर दी जायगी। हमें बड़ा संतोष है कि हमारी विवशता पर कृपा करके उन्होंने उचित आदेश देकर हमें कृतज्ञ किया। अतएव उनकी स्वीकृति के अनुसार वह दूसरी भूमिका इस संस्करण में प्रकाशित की गई है, जो सदैव नित-नूतन बनी रहेगी।

इस पुस्तक की रुचिर रचनाओं के सम्बन्ध में, अथवा कवित्वपूर्ण भाषा में लिखी गई विद्वत्तापूर्ण भूमिका के विषय में, हम कुछ भी कहने के अधिकारी नहीं हैं—दोनों सहृदय-हृदय-संवेद्य हैं वर्त्तमान युग का प्रतिनिधित्व करनेवाली कविता-पुस्तकों में 'रेणुका' की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी है। बड़े हर्ष की बात है कि हम पुनः 'दिनकर' जी की दो नई कविता-पुस्तकें—'द्वन्द्व-गीत' और 'रसवन्ती'—पाठकों की सेवा में शीघ्र ही उपस्थित करना चाहते हैं। तथास्तु।

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

—प्रकाशक

## प्रथम संस्करण की भूमिका से

प्रिय 'दिनकर',

अप्रत्यक्ष को छूने का अभिमान करनेवाली कल्पना जब काव्य का आडम्बर छोड़कर तुम्हारी पंक्तियाँ पढ़ने लगती है, तब मैं तुम्हारी कविता की मिठास के पास पहुँचने में सुख पाता हूँ। अक्षर, शब्द, सन्धि, समास, गण छन्द और रस—इन सबसे परे, जहाँ तुम अपना करुण गीत प्रारम्भ करते हो, वहीं से मैं तुम्हारी कविता के स्नेह और स्वाद का श्रीगणेश मानता हूँ। तुम्हारी वस्तु में प्रवेश करते समय, मुझे न यह स्मरण रहता है कि तुम्हारा स्वर ह्रस्व है या दीर्घ, न मुझे यही याद रहता है कि तुम्हारे व्यंजनों का कोई स्वागत करेगा या तिरस्कार। कोई अपनी मिठास की हिमायत तुम्हारे 'हिमालय' और तुम्हारी 'निर्झरिणी' पर लादकर तुमपर कोई कृपा नहीं कर सकता। उन दोनों में तुम्हारे स्नेह का स्वाभाविक प्रसाद और प्रवाह है। 'हिमालय' को पढ़ कर कौन ऐसा सहृदय है, जिसके हृदय में पथरीले और बर्फीले हिमालय के लिए आत्माभिमान और आत्मगौरव के स्वाद का अनुभव नहीं होता!

—मा० ला० च०

# मंगल-आह्वान

भावों के आवेग प्रबल
मचा रहे उर में हलचल

कहते उर के बाँध तोड़
स्वर-स्रोतों में बह-बह अनजान
तृण, तरु, लता, अनिल, जल-थल को
छा लेंगे हम बनकर गान

पर हूँ विवश गान से, कैसे
जग को हाय जगाऊँ मैं
इस तमिस्र-युग-बीच ज्योति की
कौन रागिणी गाऊँ मैं

बाट जोहता हूँ लाचार
आओ स्वरसम्राट ! उदार

पर - भर को मेरे प्राणों में
ओ विराट् गायक ! आओ
इस वंशी पर रसमय स्वर में
युग - युग के गायन गाओ

वे गायन जिनको न आज तक
गाकर सिरा सका जल - थल
जिनकी तान - तान पर आकुल
सिहर - सिहर उठता उडु - दल

आज सरित का कल-कल छल-छल
निर्झर का अविरल झर-झर
पावस की बूँदों की रिमझिम
पीले पत्तों का मर्मर

जलधि-साँस, पक्षी के कलरव
अनिल-सनल, अलि का गुन-गुन
मेरी वंशी के छिद्रों में
भर दे ये मधु-स्वर चुन-चुन

कर आदेश, फूँक दूँ शृंगी
उठे प्रभाती - राग महान
तीनों काल ध्वनित हों स्वर में
जागें सुप्त भुवन के प्राण

गत विभूति, भावी की आशा
ले युगधर्म पुकार उठे
सिंहों की घन-अन्ध गुहा में
जागृति की हुंकार उठे

जिनका लुटा सुहाग, हृदय में
उनके दारुण हूक उठे
चीखूँ यों कि याद कर ऋतुपति
की कोयल रो कूक उठे

प्रियदर्शन - इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो काव्य बने
वर्त्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने

जहाँ-जहाँ घन-तिमिर हृदय में
छिटका वहाँ विभा प्यारी
दुर्बल प्राणों की नस-नस में
देव ! फूँक दे चिनगारी

ऐसा दे वरदान, कला को
कुछ भी रहे अजेय नहीं
रजकण से ले पारिजात तक
कोई रूप अगेय नहीं

प्रथम लिखी जो मधुर ज्योति
कविता बन तमसा-कूलों में
जो हँसती आ रही युगों से
नभ-दीपों, वन-फूलों में

सूर-सूर, तुलसी-शशि जिसकी
विभा यहाँ फैलाते हैं
जिसके बुझे कणों को पा कवि
अब खद्योत कहाते हैं

उसकी विभा प्रदीप्त करे
मेरे उर का कोना-कोना
छू दे यदि लेखनी, धूल भी
चमक उठे बनकर सोना

२६ दिसम्बर
१९३३

'दिनकर'

टकसाल मानव-जीवन का स्वभाव है। वह उसे नकल में, व्यवस्था में, और अस्तित्व में दुहराता रहता है। हम शिकायत करते हैं कि विश्व-विद्यालयों ने ग्रेजुएट ढाल डाले।

किन्तु, क्या हमारी कवियों की ढलाई ग्रेजुएटों की ढलाई से हार मान सकती है? जहाँ मन रोटियों के लिये बिककर मालिक की नमक-अदाई करने में बोझीला और बेचैन हो; जहाँ हाथों ने स्वयं काम न करके केवल कल्पना के कामों पर आदर्शों की कल्पना की हो; जहाँ रूढ़ि ईश्वर से अधिक सबल और अस्तित्व से अधिक मूल्यवान् बनकर हृदय-प्रदेश को पराजित किये हो; जहाँ हृदय से दूर और केवल कुछ किताबी दुहराहटों में तथा कवायदों में मजहब का नाम आश्रय पा रहा हो; जहाँ शताब्दियों पहले पैदा होनेवाले बापदादों की कसम और उनकी याद हमारी उच्चता, श्रेष्ठता और विशालता के आडम्बर को रक्षा करती हो; जहाँ हमारे लँगड़े और कायर जीवन में अज्ञात भविष्य की अपेक्षा जाने हुए भूतकाल में छुपकर मुँह छुपाना और अपने और अपनी पीढ़ियों के लिये कुम्भीपाक नरक बनाना इतिहास का निर्माण, साहित्य का गौरव और जीवन की सार्थकता समझा जाता हो; वहाँ तो व्यक्ति ढाले ही जा सकते हैं, निर्माण नहीं किये जा सकते।

कुछ लोग इस ढलाई के विद्रोही बनकर भी आते हैं। वस्तुतः नवीन पीढ़ी में कुछ लोग इस ढलाई के विद्रोही बनकर आये भी हैं। मैं 'दिनकर' को उसी पथ का पथिक मानूँ, 'दिनकर' की पंक्तियाँ और मेरा जी, यही कहते हैं।

कष्टों की कठोरता में कवि जन्म लेता है, ठीक है। किन्तु, प्यार की परमता तो यह है कि उसमें कष्ट याद ही नहीं रह जाता। कष्ट के आवाहन के साथ निकलनेवाली कविता सेनावाहिनी है, कष्ट की अनुभूति के साथ निकलकर भी उससे उदासीन रहनेवाली कविता संन्यासिनी है;

और वह कविता—जिसमें मैंने अपने कष्ट की गोद में बैठकर बाँसुरी बजाना सीखा हो—मेरी अपनी चीज है। कोई उसे कविता कहे, कोई न कहे।

विविधता की एक-रसता जीवन की मिठास है। समुद्र सतह के बन्दीखाने से ऊँचा नहीं उठ सकता; मानव विविधता को नष्ट कर अस्तित्ववान् नहीं रह सकता। वह तो कवि के नाते कहेगा—जब मैं, नन्दन में लगे हुए, लाड़-प्यार से पले हुए, और किसी मालाकार की अँगुलियों से सेवित, उसके पसीनों की बूँदों से अभिषिक्त और उसकी प्रदान की हुई जलधारा से अभिसिंचित, तरह-तरह के वृक्षों की डालियों पर लटके हुए, हवा के झोंकों के संकेत पर विश्व की वर्णमाला के वायु-पृष्ठ पर 'अक्षर' बनाते हुए, कभी मस्तक झुकाकर प्रश्न-चिह्न और कभी मस्तक उठाकर आश्चर्य का निशान बनाते हुए, अपने अस्तित्व में कभी भी पूर्ण विराम न लिखनेवाले, पुष्पों और कलियों की, हरी-पीली रंगीन डठलियों में से, डोरा बनकर गुजरता हूँ, तब मत्थे का रोजगार करनेवालों की हाट में, कभी मस्तक पर चढ़ता-सा और कभी गले पर लटकता-सा 'मैं' ही 'मैं' होता हूँ। वह दुनिया छोटी हो; किन्तु बहुत ऊँची होती है मेरे लिये। मैंने तो अपने पर केवल चुने हुए फूल ही गूँथे हैं; किन्तु पुष्प-हार का धारण करनेवाला, हृदय के पास से मुझे छू देता, और कंठ के निकट से मुझे सूँघ लेता है, तब मैं क्षितिज को भी अपने से पीछे पाता हूँ!

यह हुआ मेरा, नागरिक जीवन का लोभ। पर जब मैं किसानों की बोई और बिना कोई हरियाली में होता हूँ, या विन्ध्या और सतपुड़ा के ऊँचे-नीचे शिखरों में होता हूँ, तब उनके आसपास कभी अनन्त एकान्त का खिलवाड़ देखता हूँ, और कभी, राहगीरों का, बहाव में कभी न रुकता-सा एक मेला-सा पाता हूँ। वहाँ भी वृक्ष होते हैं, जिनमें दस-बीस के नाम मैं जानता हूँ, और सहस्र-सहस्र के नहीं जानता। उनमें भी जवानी आती है, कलियाँ चटखती हैं फूल खिलते हैं। कोई मुसकाता है, कोई हँसता है; और कोई बौरता भी है। कोल किरातों तक से उपेक्षित, इन्हीं वनफूलों के हृदय चीरकर, जब मैं, अपने जीवन के डोरे को गुजारता हूँ तब माना, मैं 'नागर' लोगों के विलास और उल्लास की वस्तु नहीं रह जाता; माना, वह हार बहुत बोझीला, और बेतरतीब बन जाता है; किन्तु हृदय-हिमालय से चरणों के धूलि सागर तक लटकते हुए उस 'वन्य-हार' को जो पहन लेता है, वह जमाने का 'वनमाली' हो जाता है।

लोग कविता से तत्त्वज्ञान की माँग करते हैं ; और मानव-निन्दा के बाण चले कि कुछ कवि भी अपनी कमजोर घड़ियों में दौड़कर कहने आते हैं कि जरा हमारी पंक्तियों का वेदान्त तो समझो। माना, कविता के शब्द, अर्थों के वैभव की तरह ही, सुकोमल तर्क को कसक भी अपने अन्दर रखते हैं; किन्तु तत्त्वज्ञान एक ऐसा गणित है जो अपने ही परिणाम पर पहुँचना चाहता है, वह कविता को अपने परिणाम पर नहीं पहुँचने देना चाहता। जहाँ, तत्त्वज्ञान कविता नहीं रहता, तहाँ वह व्यावहारिक गोरखधन्धा हो जाता है, अथवा वह एक मजहबी कारखाना हो जाता है। किन्तु जिस तरह धार्मिक, ईमान छोड़कर भी, धर्म-ग्रन्थों के बोझमात्र से अपने युग का 'धर्मज्ञ' बना रह ले जाता है, उस तरह 'प्यार' छोड़कर कवि, कवि नहीं रह ले जा सकता। वेदान्त को अपने बने-बनाये निर्णय कहने होते हैं; किन्तु कविता के शब्द ऐसा कहते हैं, जैसा उन शब्दों ने पहले कभी नहीं कहा होता।

कवि की कहन तो, उसकी बेचैन घड़ियों में आनेवाले, रूठे-से, झगड़ते-से, मनते-से, उमड़ते-से मनोभावों के सुकोमल आविष्कार हैं। कहते हैं, कुछ झाड़ों के फलों में अधिक मिठास लाने के लिये उनकी जड़ों में रक्त का खाद देना होता है। यह बात हो चाहे न हो; किन्तु कवि की जीवन-बेल तो अपने हृदय के रक्त को पानी बनाये बिना उगती ही नहीं। कवि की एक अनसुनी-सी बात—यदि वह अपनी सम्पूर्ण तरुणाई के साथ आँखों से अछूती और कानों से बेदाग हो—सहस्र सहस्र सुननेवालों को पैदा कर लेती है; और वे शताब्दियों तक हर जमाने के साथ उगते जाते हैं।

सामाजिक आदर्श, राजनीतिक हलचल, नैतिक चर्चा और जगत् की जानकारी—ये हजारों मनुष्यों की जरूरत, रुचि और सेवा के खयाल से बनाई और निश्चित की जानेवाली वस्तुएँ हैं। इनका युग की कविता पर असर भले रहे, किन्तु, कविता इनके माप से नहीं मापी जा सकती। बाग में कलियों का चटखना और समुद्र में किसी जहाज का टकराकर टूट पड़ना—दोनों घटनाएँ कवि के मन को मसोसती हैं और वह कुछ कह उठता है। किन्तु यदि कोई जहाज बनानेवाली कम्पनी का व्यक्ति, उस कवि की कविता को इसलिये पढ़े कि उसमें जहाज बनाने की या जहाज की मरम्मत करने की कोई नई सूचनाएँ मिलेंगी, या किसी बाग का माली उस कविता को इसलिये पढ़े कि उस कविता में कलियों और फूलों को तोड़कर बाजार

तक बिना कुम्हलाये हुए ले जाने का कोई नुसखा मिलेगा, तो ऐसी भावनाएँ, कवि का, उसके बिना जाने किया हुआ अपमान मात्र होंगी ।

कविता तो कवि की अपनी ही चीज है । यह कवि की विशालता है कि उसमें अगणित लोगों की विशेष मनोभावनाएँ और मनोवेदनाएँ प्रतिबिम्बित हो उठती हैं । यह सब कुछ करके भी लोगों की विशेष मनोभावनाओं को विशेष प्रकार से व्यक्त करने और उन्हें विशेष हद तक ही व्यक्त करने के लिये कवि किसी प्रकार का ठीका नहीं ले सकता; यानी कवि का दिमाग ऐसा कारखाना नहीं है जहाँ लोगों की जरूरतों का तैयार माल खरीद के लिये हाजिर रखा जाता हो ।

कविता का तर्क भी तर्क की सम्पूर्ण परिभाषा से भरा नहीं होता । वह तो उसकी अपनी कहन की हिमायत-मात्र होता है । उसका तर्क उसके सपने को स्वप्न-लोक से कलम की दुनिया तक उतारने और वहाँ से लोगों की रुचि और आकलन पर चढ़ने की सीढ़ियाँ मात्र होता है । उसकी कहन की प्रेरणा लोगों की उम्मीदों से कहीं ऊपर और उसकी अपनी जागरूकता से कहीं नीचे छुपकर, होती है ।

गायक जब अपना तानपूरा लेकर सूरदास के किसी गीत को गा उठता है तब जानकारी और हृदय रखनेवाले लोग उस गीत पर मस्त हो उठते हैं । किन्तु क्या वे जानते हैं कि गायक के स्वर और तानपूरे के द्वारा छुए जानेवाले हृदय-स्थलों से कहीं बहुत दूर, 'सूरदास' के उस स्वप्न का जन्म-स्थल है ?

हम किसी आँसू बहाते हुए व्यक्ति को देखकर द्रवित हो सकते हैं, या किसी दर्द से बेचैन व्यक्ति को देखकर तड़प सकते हैं; किन्तु यह तो हमें मानकर ही चलना चाहिये कि अपनी सारी कहानी सुना देने के बाद भी, बेचैन या दुखी, अपनी कसक की सम्पूर्ण तसवीर दूसरे के हृदय पर नहीं खींच सकते । किन्तु, जब सुननेवाला भी दरदीला हो और कहनेवाला भी दरदीला हो, तब कहनेवाले की एक-एक कसक, सुननेवाले को अपने सौ-सौ मानी देने लगती है । उस वक्त कवि के गीत के शब्द रूढ़ हैं या अरूढ़, पिंगल के माप पर तुले हैं या नहीं तुले, इन प्रश्नों का बोझ सुननेवालों की स्मृति की मिठास, सँभालने के लिये राजी नहीं होती । उस समय उसे, ऐसे प्रश्न, रगड़-झगड़ में न ठहर सकनेवाले, सुकोमल रसों पर की जानेवाली शल्य-क्रिया प्रतीत होने लगते हैं । उस समय तो, कवि की मिठास के शब्दों के आगे दौड़कर आनेवाले, कसक-भरे संकेत पर, पहले मत्था डोलता है, फिर आँखें खुलती हैं ।

फिर आँखें गीली होती हैं और फिर मत्था झुकता है। मानों कवि की जो वेदना उसके जी में न समाकर बिखर पड़ी, उसे युग ने स्नेह से उठाकर शताब्दियों के लिये अपने हृदय की गाँठ में बाँध लिया और उसपर अधिकार-पूर्णता की मुहर लगा दी।

यह जरूरी नहीं है कि उद्देश्य की रचना में कविता ऊँची ही निकले। यह भी बात नहीं कि ऊँची कविता ऊँचे उद्देश्यवाले से डरकर भागती हो। फ्रांस का राष्ट्र-गीत एक सिपाही ने एक वैरिक की बन्द कोठरी में लिखा था और सारा फ्रांस आज उस व्यक्ति की शताब्दियाँ मनाता है। जिनका उद्देश्य कविता को गँवा देना न हो, वे किसी उद्देश्य के माप पर वेदना प्रकट करने के लिये कैसे ठहरें ?

"जाको धन धरती गई, ताहि न लीजे संग
जो सँग राखे ही बने, तो कर राख अपंग"

कितने ही दुनियादार इन पंक्तियों को सुनकर प्रसन्न होंगे। ठग और मालदार तो इसे अपना जीवन सूत्र भी बना लें। किन्तु क्या यह कविता है ?

"तोलों या मन सदन में, हरि आवहिँ केहि बाट
निपट, बिकट जब तक खुलै, खुलहिं न कपट-कपाट"

वेदान्त के आत्म-दर्शन का एक तत्व है। अपराधों के लिये प्रभु को गिरफ्तार कर रखने का सुन्दर नुसखा है। परन्तु मकान और दरवाजे बनाने में और उसके बंद रहने को देखभाल में इस कोमल कहन में भी कविता बेचारी दिखाई नहीं देती। मुझे तो कविता दिखाई देती है इन पंक्तियों में—

"मेरे प्यारे मोहना, पलक झाँपि तोय देउँ
ना मैं देखौं और कों, ना तोय देखन देउँ"

अथवा, इस कथन में कविता दिखाई देती है—

"गोरे मुख पै तिल बन्यो ताहि करौं परनाम
मानों चंद बिछाय के पौढ़े सालिग्राम"

अथवा, इस कथन में कविता दिखाई देती है, जहाँ 'अमा-सन्ध्या' शीर्षक में 'दिनकर' कहता है—

"अन्तिम किरणें भर गईं
ऊर्मि-अधरों में मोती के चुम्बन

वन-कुसुम-वृन्द पर ऊँघ रहे
दूर्वा-मुख सींच रहे हिमकण"

तक, अलंकार और तत्त्वज्ञान से बोझीली कविता, कविता का बुढ़ापा है; क्योंकि वह बुढ़ापे का आत्मसंतोष है। जब भूमि पर स्वर्ग उतारने की क्षमता हम अपने में नहीं रखते, तब तत्त्वज्ञान के कल्पनामय स्वर्ग में विचरण करने की इच्छा कमजोरों की लाचारी * स्वभाव की जवानी कविता की मस्ती है, उसका दौड़ता हुआ रक्त है। कविता उपदेश बनकर नहीं, जीवन की प्रेरणा, अस्तित्व का उल्लास और मरण की मस्ती बनकर जीवित रहना चाहती है। प्रशंसा, कवि का पथावरोह है; और अपनी वेदनाओं में प्रशंसा के प्रकटीकरण की जानकारी पथ भंग है। जिसके पास कहने को बात है, उसे दो लाइन काफी हैं। और, जिन्होंने बातों के खेत बोये हैं, और मौसम पर फसल आने की प्रतीक्षा है वे बाजारों में दूकानदार ढूँढ़ते फिरेंगे। कवि की सीधी-सादी दो पंक्तियाँ, दिग्गजों के ग्रन्थों से अधिक कह जाती हैं। वेदान्त के बोझीले ग्रन्थ जहाँ थककर जूड़ा डाल देते हैं वहाँ कबीर, तुकाराम और मीरा की दो कसम भरी बातें न जाने क्या कर डालती हैं।

लोग ऐसी कविता पसन्द करते हैं जो जमाने से चली आई हुई कविता के तरल पदार्थों में घुल-मिल जाय। वे क्षण-क्षण में नवीनता देनेवाले महाकवि कालिदास के रमणीयता के स्वरूप को तो मानते हैं, किन्तु प्रकृति की तरह ही, कवि की कलम जब एक नई चीज लेकर आती है, तब हमारा परम्परा में चक्कर काटता हुआ हृदय उस नई वस्तु के स्वाद का आकलन नहीं कर पाता! या तो यह हमारी कवित्व की नास्तिकता' के प्रति मौलिक हिमायत है, या मौलिकता के स्वागत में प्रकट की हुई नास्तिकता है।

कवि से चाहा यह जाता है, और उचित रूप से, कि उसकी कलम पर अनहुआ-सा अनहोनापन उतरे; परन्तु जब वह 'ऐसा कुछ' लेकर आता है, तब हम मुँह बनाकर कहते हैं कि न यह कालिदास जैसा है न माघ-जैसा; न यह तुलसीदास-जैसा है न सूरदास-जैसा! इस मनोवृत्ति को क्या कहिये? लोग देखते हैं कि हृदयवान् साधारण पढ़े-लिखे मस्तक डुलाडुलाकर

* व्योम-कुंजो की परी अयि कल्पने!
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
रुक न सकती मृत्तिका आकाश में
शक्ति है तो आ बसा अलका यहीं। (रेणुका)

जिन पंक्तियों में अपने लिये मिठास, संकेत और सन्देश पर लेते हैं; विद्वत्ता के थैलों में कीर्ति का बोझीला वैभव अपनी पीठ पर लादे हुए विद्वन्मान्य उन पंक्तियों के साथ अपना समझौता नहीं कर पाते। 'मधुप' के नाम से श्रद्धास्पद बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त ने जो पंक्तियाँ लिखी हैं, उनमें 'विरहिणी व्रजाङ्गना' में, यदि मुझे शुद्ध रूप में याद हों तो, (क्योंकि मेरी स्मरणशक्ति भूल जाने में पुरस्कार पाने योग्य है!) दो पंक्तियाँ ये भी हैं—

"जिनने देख लिया आली,
प्यारा घनश्याम बिना बाधा
वे कैसे कह पायेंगी री;
कुल कलंकिनी है राधा!"

होगा 'स्मृतियों' में इन पंक्तियों के लिये दंड-विधान, तो भी भागवतकार व्यास की वह मस्तानी खिलवाड़ तो जिन्दा ही रही जिससे प्रेरणा पाकर 'रसखान' की बावली कलम लिख उठी—

"ताहि अहीर की छोहरियाँ,
छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।"

आदर्श की जागरूकता कवि से बिदाई नहीं ले लेती। 'नवीन' जी की प्रेम-कविताओं पर लोगों की कानाफूसी मैंने सुनी है। किन्तु 'नवीन' ही कह सकते हैं—

'कवि, कुछ ऐसी तान सुना दो
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आये।'

लोगों ने इन पंक्तियों के बल पर कुछ और लिखा। वे भी तुकें ही थीं; मगर नकल करने की हिलोर के सिवा जब कोई हिलोर उन्हें आई हो? मस्ताने 'नवीन' जब प्रेम लिखते हैं वह बोलने लगता है; और जब प्रलय लिखते हैं, वह हृदय को और भुजाओं में दौड़नेवाले रक्त को उथल-पुथल करने लगता है।

'दिनकर' को भी जब बिहार की सीमा से लगा हिमालय मुँदी आँखें दीख जाता है, तब वे ऐसी पंक्तियाँ कह उठते हैं, जिनसे युग की आँखें खुलें। वे कहते हैं—

"ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट, हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद
तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी! आज तप का न काल
नवयुग - शंख - ध्वनि जगा रही
तू जाग - जाग मेरे विशाल
मेरी जननी के हिम - किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल"

और, यह उन्मेष क्यों न आवे 'कस्मै-देवाय' में इस मस्ताने तरुण की तो लाचारी यह है—

"भावुक मन था रोक न पाया
सज आये पलकों में सावन
नालन्दा वैशाली के
ढूहों पर बरसे पुतली के घन

उसी समय अपनी कविता से यह कवि कह उठता है—

'बरस, ज्योति बन गहन-तिमिर में
फूट, मूक की बनकर भाषा
चमक, अन्ध की प्रखर दृष्टि-सी
उमड़, गरीबी की बन आशा"

वह यहीं नहीं ठहरता। एक नकशा-सा जो उसकी आँखों में घूमता है, उसे देखकर वह अपने आँखों के पानी में आग लगाने की बेकाबू ताकत लाना चाहता है। विज्ञान की कृपा से लोग जानते हैं कि ऐसी तरलाई होती है जो पानी-सी टपकती है, और टपकते ही जल पड़ती है। 'दिनकर कहता है—

"उठ, वीरों की भाव-रंगिणी
दलितों के दिल की चिनगारी
युग मर्दित यौवन की ज्वाला
जाग - जाग री, क्रान्ति - कुमारी"

किन्तु इस कवि का यही रण-डंका धीरे से बाँसुरी भी बन जाता है—

"जहाँ तृणों में तू हँसती हो
बहती हो सरि में इठलाकर
पर्व मनाती हो तरु - तरु पर
तू विहंग-स्वर में गा - गाकर"

गरज यह कि अतिरेक में गोता लगाना इन मनचलों का प्राण-व्यापार है। वे प्रेम में लगायेंगे तो उसी गहराई का और प्रलय में लगायेंगे तो उसी सीमा का। वे या तो युग के वृत्त की अन्तिम सुकोमल साध 'कलिका' बनकर हृदय को छूनेवाली प्रेरणा के मस्तक पर रहेंगे, या फिर मौन रहेंगे। जरूरत के माप के जूते बनाना इनका रोजगार नहीं है।

हाजिर-जवाबी कुछ धन्यभागियों को हाजत की तरह मिली होती है। वे वाणी के घोड़े पर बैठकर, उसे तरह-तरह की चालें सिखाते हैं और उसे मनचाहा नचाते-कुदाते हैं। वे शब्दों का—'संकेत रहितता' में भी—बड़े मजे के साथ निमंत्रण करते हैं। किन्तु किसी 'हृदय की भाषा' में बोलनेवाले की कहन उनकी समझ में नहीं आती। वेदान्त के 'तत्त्वमसि' को लोग न जाने कैसे समझ लेते हैं! किन्तु जब कोई हृदय की बोली में गाता हुआ कह उठता है—

"फूलों के वन में क्या हँसना
क्या शूलों के पथ पर रोना
रहे नियम हो जो, अच्छा है
उनका लेना, अपना खोना"

—तब इन सीधी-सी पंक्तियों के कुछ मित्र मानी नहीं समझते। मेरे-जैसे कविता के विषय की ठीक-ठीक जानकारी न रखनेवाले अज्ञानी को, कुछ कहने का अधिकार चाहे न हो; किन्तु एक गद्य-जीव के ही नाते क्यों न हो मैं एक कमी तो अनुभव जरूर करता हूँ, कि हमें पंक्तियाँ लिखने के बजाय प्रेरणाएँ लिखने में बहुत आगे आना चाहिये। अपनी तुकों की छकड़ा-

गाड़ी में बैठकर, 'विश्व के कोमल कवियों की उड़ानों के हवाई जहाजों का तमाशा' देखते रहना अब हमें नहीं शोभता।

मुझे यह भी कहना है कि प्राचीन काव्य की नकल तो हमें नहीं करनी; किन्तु उसकी जानकारी से अछूते रहकर यदि हम कुछ गायँगे तो वह हमारे युग की सम्पूर्ण वाणी न होगी।

एक बात मुझे यह भी कहनी है कि यदि हम अपनी प्रेरणा का अधूरा स्वप्न देखते हैं, या किसी पूर्ण स्वप्न को देख लेने के पश्चात् अधूरा कलम पर उतार पाते हैं तो उससे निराश और उस पथ में मिलनेवाली गालियों से हम चिन्तित न हों। अधूरा स्वप्न भी पूर्ण सत्य का प्रारम्भ है; पूरे स्वप्न के प्रारम्भ ही से ढलकर आने के लिये कवि के हृदय में कोई साँचा नहीं बना होता। अनुभूतियाँ कुछ 'रेडीमेड' माल नहीं है जो बाजारों से खरीदा जा सके। एक उठनेवाली कसक इतना बावला कर देती है कि कवि से कुछ लिखे बिना रहा नहीं जाता। परन्तु कभी-कभी एक कसक अपने सम्पूर्ण रूप से बाहर निकलने में वर्षों ले लेती है। ऐसे समय कवि के एक ही मनोभाव को ठीक रीति से समझने के लिये उसकी अनेक कविताओं के आरपार जाने की जरूरत होती है।

'दिनकर' की 'मनुष्य' नामक कविता में, जो उसने प्रश्न पूछा, वह केवल प्रश्न ही नहीं रह गया, किन्तु प्रश्न की सुकोमल बाजुओं को वह रचना छू न पाई। किन्तु इसका जवाब 'दिनकर' को 'व्योमकुंजों की परी अयि कल्पने' देती है, और फिर कुछ देती है 'पाटलीपुत्र की गंगा'। यदि 'दिनकर' की 'नई दिल्ली' पढ़ ली जाय तो 'दिनकर' के इस प्रश्न की रामायण के लंकाकांड की पूर्ति उसमें मिल जायगी। मैं चाहता हूँ, इस प्रश्न पर 'दिनकर' जी फिर लिखें। यों मैं जानता हूँ कि किसी भी वस्तु के विषय में जी-चाहा लिखना उनके लिये भी उसी तरह की लाचारी है, जिस तरह की कि अन्य प्रेम के धनी, प्रेरणा के मुहताज, जीवन के पुजारियों की है।

कवि को समझने में कठिनाई मुझे वहाँ मालूम होती है जहाँ कवि किसी सामयिक तेजस्विता से प्रभावित होकर केवल खून, फाँसी और कालापानी की बातें ही लिखकर रह जाय और प्रेम की मस्ती का बेदाग वैभव उसकी कलम पर न उतर सके; अथवा प्रेम के नाम पर लचकती भावनाओं का ऐसा मीठा-सा मेला लगाये कि जिसपर शत-शत मस्तिष्क-विलासियों की रुचि

की मक्खियाँ भिनकने लगें; और चाहे रणभेरी बजे, चाहे मारू-बाजा, किन्तु कवि की कविता-नटी के पैर के घुँघरू, अपनी छुकम के लोभ को अपने काबू का न कर पायें।

मस्ती की उद्दंडता, प्रेम की महत्ता और प्रतिभा की अप्रत्यक्ष को छू लेनेवाली शक्ति के तो दर्शन वहीं होते हैं, जहाँ रात्रि के सन्नाटे में कवि की कसक बाँसुरी बजा रही हो, तो रणभेरी के युग के पहले वह मस्तक चढ़ानेवालों में ज्वाला जगा रही हो—वह नन्हें बच्चों के स्वर में तुतला रही हो, घुटनों के बल रेंगतों की दँतुलियाँ देख रही हो, हृदय का धन खोनेवालियों की सिसकियों और उसासों को शत-शत कंठों की सिसकियाँ और उसासें बना रही हो; और कभी गंभीर बनकर प्रभु की आकाशवाणी भी बन रही हो। परन्तु यह सब ही बेइख्तियार, अपनेसे बेकाबू।

जिनसे गंगा, जमना और नर्मदा की लहरें अपनी कहानी कहने लगें; चहकनेवाली चिड़ियों की चहक जिनकी उठती हुई कल्पनाओं में स्वर भरने लगें और पतझड़ के वृक्ष जिनके पराजय में समवेदना प्रकट करने आवें; जिन्हें जेठ की बरसती ज्वाला में फूलता हुआ आक का पेड़ क्रान्ति के बीचोबीच का कर्त्तव्य सुझा सके, और खँड़हर के पत्थर जिसे कह सकें—'हमारे भी जबान है', उनके लिये, उनकी पहुँच के लिये, विश्व के हृदय का सारा वैभव आकाश की तरह उघारा और सितारों की तरह स्पष्ट है।

संस्कृति के गहने और सूझ के वस्त्रों को पहनकर ऐसा ही 'दिनकर' किसी दिन वर्त्तमान में उथल-पुथल मचाती-सी भविष्य में संकेत बनकर जाती-सी और वर्षों के पश्चात् भी भूतकाल में से सुनाई देती-सी, हमारे हिन्दी के अंचलों में, समय की ध्वनि बन सके, यही माँग मैं अपने प्रभु से करता हूँ। 'दिनकर' के साथ मेरी हिमायत है। समय के पृष्ठ पर उन्हें यह लिखना है कि मेरी यह हिमायत मोह है या उनके नगपति की तरह कोई स्थायी वस्तु है।

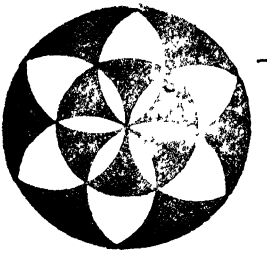

—एक 'भारतीय आत्मा'

खंडवा, सी० पी०
कार्त्तिक शुक्ल एकादशी
संवत् १९९२ विक्रमीय

## प्रथमावृत्ति से

" ' कवि अपनी अनुभूतियों में खुद छुपकर आया करता है। अपनी जिन प्रेरणाओं में कवि स्वयं छुरका नहीं बैठता, अपनी जिन पंक्तियों पर कवि अपना हृदय नहीं उतारता, ऐसी रचनाएँ दिमागी कलाबाजियाँ भले ही कहलायें, वे कविता नहीं कहला सकतीं। वे शब्दों का अस्थि-पंजर भले हों, प्राणमय वस्तु उनमें दिखाई नहीं देती।"

सहृदय जनों की बुद्धि की जीभ ही सबसे बड़ी देवता है, जो कवि की पंक्तियों पर अपना फैसला दे सके।"

"जिनकी आँखें अनुभव के स्वाद से रसीली और अनुभव की महत्ता से बोझीली होती हैं, वे कवि के हृदय को पढ़ना जानते हैं "

"दोषों से झगड़ने के लिए हृदय-संगर जारी रहे; किन्तु जब दोषों पर शस्त्र उठाओ, तब ऐसा न हो कि कविता का वध कर दो। निर्दोष काव्य-हीनता की अपेक्षा दोषोंवाली कविता यथार्थ स्वागत की वस्तु है।" —माखनलाल चतुर्वेदी ( 'कर्मवीर'-सम्पादक )

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने


| | | |
|---|---|---|
| १ | तांडव ( सचित्र ) | १ |
| २ | हिमालय के प्रति | ४ |
| ३ | कविता की पुकार | ९ |
| ४ | पाटलिपुत्र की गंगा से | १३ |
| ५ | कस्मै देवाय | १८ |
| ६ | मनुष्य | २५ |
| ७ | बोधिसत्व | २७ |
| ८ | शब्दबेध | ३० |
| ९ | मिथिला | ३३ |
| ० | कला-तीर्थ | ३६ |


गा रही कविता युगों से मुग्ध हो


| | | |
|---|---|---|
| १ | निर्झरिणी | ४४ |

१२ जागरण ( सचित्र ) ४८
१३ राजा-रानी ५०
१४ मिथिला में शरत् ५४
१५ कवि ६२
१६ फूल ६५
१७ विश्व-छवि ६७
१८ अमा-संध्या ७२
१९ कोयल ७४
२० विधवा ७८
२१ याचना ८०
२२ विरह-योगिनी ८१
फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना
२३ परदेशी ८३
२४ समाधि के प्रदीप से (सचित्र) ८६
२५ उत्तर में ९०
२६ जीवन-संगीत ९२
२७ सायं-चिन्ता ९७
२८ प्रेम का सौदा ९९
२९ वैभव की समाधि पर १०३

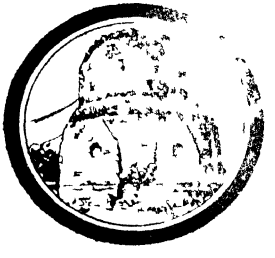

व्योम-कुंजों की परी अयि कल्पने
भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं
रुक न सकती मृत्तिका आकाश में
शक्ति है तो आ, बसा अलका यहीं

फूल से तेरे विभूषित अंग हैं
और हीरक-ओस का शृंगार है
धूल में तरुणी-तरुण हम रो रहे
वेदना का शीश पर गुरु भार है

अरुण की चिर ज्योति तेरे देश में
है सुना, उसकी अमिट मुसकान है
टकटकी मेरी क्षितिज पर है लगी
निशि गई, हँसता न स्वर्ण-विहान है

व्योम-कुंजों की सखी, अयि कल्पने
आ उतर, हँस ले जरा वन-फूल में
रेणुके ! हँसने लगे जुगनू, चलो
आज कूकें खँडहरों की धूल में

नाचो हे नाचो नटवर !
चन्द्रचूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि-प्रलय ! अवढर ! शंकर
नाचो हे नाचो नटवर

आदि लास, अविगत अनादि स्वन
अमर नृत्य, गति, ताल चिरन्तन
अंगभंगि, हुंकृति - झंकृति कर थिरक - थिरक हे विश्वम्भर
नाचो हे नाचो नटवर

सुन शृंगी - निर्घोष पुरातन
उठे सृष्टि - हृत् में नव - स्पन्दन
विस्फारित लख काल - नेत्र फिर
काँपे त्रस्त अतनु मन - ही - मन
स्वर - खरभर संसार, ध्वनित हो नगपति का कैलास - शिखर
नाचो हे नाचो नटवर

नचे तीव्रगति भूमि कील पर
अट्टहास कर उठें धराधर

उपटे अनल, फटे ज्वालामुख
गरजे उथल-पुथल कर सागर
गिरे दुर्ग जड़ता का ऐसा, प्रलय बुला दो प्रलयंकर
नाचो हे नाचो नटवर

घहरें प्रलय-पयोद गगन में
अन्ध-धूम्र हो व्याप्त भुवन में
बरसे आग, बहे झंझानिल
मचे त्राहि जग के आँगन में
फटे अतल पाताल, धँसे जग, उछल-उछल कूदें भूधर
नाचो हे नाचो नटवर

प्रभु! तव पावन नील गगन-तल
विदलित अमित निरीह-निबल-दल
मिटे राष्ट्र, उजरे दरिद्र-जन
आह! सभ्यता आज कर रहीं
असहायों का शोणित-शोषण
पूछो, साक्ष्य भरेंगे निश्चय, नभ के ग्रह-नक्षत्र-निकर
नाचो हे नाचो नटवर

नाचो अग्निखंड भर स्वर में
फूँक-फूँक ज्वाला अम्बर में
अनिल-कोष, द्रुम-दल, जल-थल में
अभय विश्व के उर-अन्तर में

गिरे विभव का दर्प चूर्ण हो
लगे आग इस आडम्बर में
वैभव के उच्चाभिमान में
अहंकार के उच्च शिखर में
स्वामिन्, अन्धड़-आग बुला दो
जले पाप जग का क्षण-भर में
डिम-डिम डमरु बजा निज कर में
नाचो नयन तृतीय तरेरे
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो
चिता-भूमि बन जाय अरेरे
रच दो फिर से इसे विधाता, तुम शिव, सत्य और सुन्दर
नाचो हे नाचो नटवर

# हिमालय के प्रति

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार, दिव्य, गौरव विराट
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल
मेरी जननी के हिम-किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान
कैसी अखंड यह चिर-समाधि
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान
उलझन का कैसा विषम जाल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल

ओ, मौन तपस्या-लीन यती
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश

सुखसिन्धु पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा, यमुना की अमिय-धार
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार
'पद-दलित इसे करना पीछे
पहले ले मेरा सिर उतार'

उस पुण्यभूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा संकट कराल
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल
मेरे नगपति ! मेरे विशाल

कितनी मणियाँ लुट गईं ? मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश

कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अन्त हुआ
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ

पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ
वन-वन स्वतंत्रता-दीप लिये
फिरनेवाला बलवान कहाँ

तू पूछ अवध से, राम कहाँ
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी
तू पूछ, कहाँ इसने खोईं
अपनी अनन्त-निधियाँ सारी

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल-उपदेश कहाँ
तिब्बत, इरान, जापान चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ
ओ री उदास गंडकी! बता
विद्यापति-कवि के गान कहाँ

तू मौन त्यागकर पूछ आज
बंगाल, नवाबी ताज कहाँ
भारत का अन्तिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा 'सीराज' कहाँ?

तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा कैसा यह ध्वंस-राग
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग

प्राची के प्राङ्गण-बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्निज्वाल
तू सिंहनाद कर जाग यती
मेरे नगपति! मेरे विशाल

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूँज उठे
'हर-हर-बम' का फिर महोच्चार

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद
तू शैलराट्! हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी! आज तप का न काल
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल

मेरी जननी के हिम-किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल
नवयुग-शंखध्वनि जगा रही
जागे नगपति! जागे विशाल

# कवि बोला कवि पुकार

आज न उडु के नील-कुंज में
स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चंद्र-
किरणों से चित्र बनाऊँगी

अधरों में मुसकान, न लाली
बन कपोल में छाऊँगी
कवि ! किस्मत पर भी न तुम्हारी
आँसू आज बहाऊँगी

नालन्दा, वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवन-स्वर्ग - ग्रामों में—कर पाई न विहार
आज यह राज-वाटिका छोड़
चलो कवि ! वन-फूलों की ओर
चलो, जहाँ निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल भूलता, भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं

कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्योति पसार
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार

कब पर मैं कवि ! रोऊँगी
जुगनु - आरती सँजोऊँगी

विद्युत् छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण कुटी-प्रवेश
तुम गाँवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ वेश

स्वर्णाञ्चला अहा ! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमन्थन करती गायें आ रहीं रौंदती घास हरी
घर - घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी-बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते—'कहँ अटके बनवारी'

पनघट से आ रही पीतवासना युवती सुकुमार
किसी भाँति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार

बनूँगी मैं कवि ! इसकी माँग
कलस, काजल, सिन्दूर सुहाग

वन-तुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है
मन्दिर की घंटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है
टिमटिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
'भैया ! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग
चारो कोने खेम-कुसल माँझे ठाँ मोर बियोग'

दूतिका मैं बन जाऊँगी
सखी ! सुधि उन्हें सुनाऊँगी

पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत-मा का पुण्य तरल
भक्ति-अश्रुधारा-सी निर्मल गंगा बहती है अविरल

लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती-गान
भुवन स्वर्ग बन रहा, उड़े जाते ऊपर को प्राण

पुजारिन की बन कंठ-हिलोर
भिगो दूँगी अग-जग का छोर

कवि ! असाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो
रोऊँगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो
मैं बच्चों के संग जरा खेलूँगी दूब-बिछौने पर
मचलूँगी मैं जरा इन्द्रधनु के रंगीन खिलौने पर
तितली के पीछे दौड़ूँगी, नाचूँगी दे-दे ताली
मैं मकई की सुरभि बनूँगी, पके आम फल की लाली

वेणु-कुंज में जुगनू बन मैं इधर-उधर मुसकाऊँगी
हरसिंगार की कलियाँ बनकर वधुओं पर झर जाऊँगी

सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धरकर हल
तब दूँगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगाजल
उसके तन का दिव्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊँगी
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊँगी

शस्य-श्यामता निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा
तब मैं उसके हृदय-स्रोत में उमड़ूँगी बनकर आशा
अर्द्धनग्न दम्पति के घर में मैं झोंका धन आऊँगी
लज्जित हों न अतिथि-सम्मुख वे, दीपक तुरत बुझाऊँगी

ऋण-शोधन के लिये दूध, घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे
बूँद-बूँद बेचेंगे, अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूँगी हृदय, लाज से आँख नहीं रो पायेगी

इतने पर भी धन-पतियों की उनपर होगी मार
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार

फटेगा भू का हृदय कठोर
चलो कवि ! वन-फूलों की ओर

# पाटलिपुत्र की गंगा से

संध्या की इस मलिन सेज पर
गंगे ! किस विषाद के संग
सिसक-सिसककर सुला रही तू
अपने मन की मृदुल उमंग

उमड़ रही आकुल अन्तर में
कैसी यह वेदना अथाह
किस पीडा के गहन भार से
निश्चल-सा पड़ गया प्रवाह

मानस के इस मौन मुकुल में
सजनि ! कौन-सी व्यथा अपार
बनकर गन्ध अनिल में मिल
जाने को खोज रही लघु द्वार

चल अतीत की रंगभूमि में
स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान
विकल-चित्त सुनती तू अपने
चन्द्रगुप्त का क्या जय-गान

घूम रहा पलकों के भीतर
स्वप्नों - सा गत विभव विराट
आता है क्या याद ? मगध का
सुरसरि ! वह अशोक सम्राट

संन्यासिनी समान विजन में
कर - कर गत विभूति का ध्यान
रो - रोकर गा रही देवि ! क्या
गुप्त - वंश का गरिमा - गान

गूँज रहे तेरे इस तट पर
गंगे ! गौतम के उपदेश
ध्वनित हो रहे इन लहरों में
देवि ! अहिंसा के सन्देश

कुहुक - कुहुक मृदु गीत वही
गाती कोयल डाली - डाली
वही स्वर्ण - सन्देश नित्य
बन आता उषा की लाली

तुझ याद है ? चढ़े पदों पर
कितने जय - सुमनों के हार
कितनी बार समुद्रगुप्त ने

तेरे तीरों पर दिग्विजयी
नृप के कितने उड़े निशान
कितने चक्रवर्तियों ने हैं
किये कूल पर अवभृथ-स्नान

विजयी चन्द्रगुप्त के पद पर
सैल्यूकस की वह मनुहार
तुझे याद है ? देवि ! मगध का
वह विराट उज्ज्वल शृंगार

जगती पर छाया करती थी
कभी हमारी भुजा विशाल
बार-बार झुकते थे पद पर
ग्रीक, यवन के उन्नत भाल

उस अतीत गौरव की गाथा
छिपी इन्हीं उपकूलों में
कीर्त्ति-सुरभि वह गमक रही
अब भी तेरे वन-फूलों में

नियति-नटी ने खेल-कूद में
किया नष्ट सारा शृंगार
खँड़हर की धूलों में सोया
तेरा स्वर्णोदय साकार

तूने सुख - सुहाग देखा है
उदय और फिर अस्त, सखी
देख आज निज युवराजों को
भिक्षाटन में व्यस्त, सखी

एक एक कर गिरे मुकुट
विकसित वन भस्मीभूत हुआ
तेरे सम्मुख महासिन्धु
सूखा, सैकत उद्भूत हुआ

धधक उठा तेरे मरघट में
जिस दिन सोने का संसार
एक एक कर लगा दहकने
मगध - सुन्दरी का शृंगार

जिस दिन जली चिता गौरव की
जय - भेरी जब मूक हुई
जमकर पत्थर हुई न क्यों
यदि टूट नहीं दो - टूक हुई

देवि ! आज बज रही छिपी ध्वनि
मिट्टी में नक्कारों की
गूँज रही झन - झन धूलों में
मौर्यों की तलवारों की

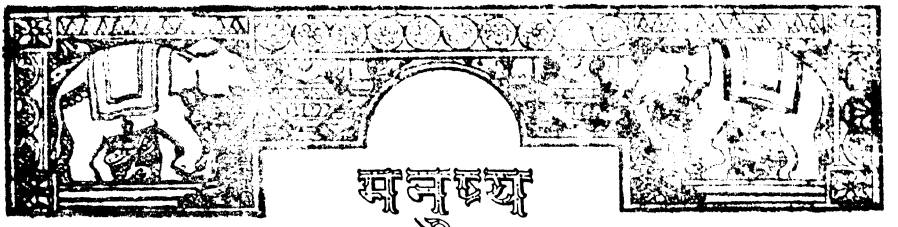


कैसी रचना ! कैसा विधान !
हम निखिल सृष्टि के रत्न-मुकुट
हम चित्रकार के रुचिर चित्र
विधि के सुन्दरतम स्वप्न, कला
की चरम सृष्टि, भावुक, पवित्र
हम कोमल, कान्त प्रकृति-कुमार
हम मानव, हम शोभा-निधान
जाने किस्मत में लिखा हाय
विधि ने क्यों दुख का उपाख्यान
कैसी रचना ! कैसा विधान

कलियों को दी मुसकान मधुर
कुसुमों को आजीवन सु-हास
नदियों को केवल इठलाना
निर्झर को कम्पित स्वर-विलास
वन-मृग को शैलतटी-विचरण
खग-कुल को कूजन, मधुर तान
सब हँसी-खुसी बँट गई
रुदन ही पड़ा हमारे भाग्य आन

## कैसी रचना ! कैसा विधान

खग, मृग आनन्द-विहार करें
तृण-तृण भूमें सुख में विभोर
हम सुख-वंचित, चिन्तित, उदास
क्यों निशि-वासर श्रम करें घोर

अविराम कार्य, नित चित्त क्लान्ति
चिन्ता का गुरु अविराम भार
दुर्वह मानवता हुई; कौन—
कर सकता मुक्त हमें उदार

चारों दिशि ज्वाला-सिन्धु घिरा
धू-धू करतीं लपटें अपार
वन्दी हम व्याकुल तड़प रहे
जाने किस प्रभुवर को पुकार

मानवता की दुर्गति देखे
कोई सुन ले यह आर्त्तनाद
कोई कह दे, क्यों आन पड़ा
हम पर ही यह सारा विषाद

उपचार कौन ? रे क्या निदान
कैसी रचना ! कैसा विधान

# बोधिसत्व

सिमट विश्व-वेदना निखिल बज उठी करुण अन्तर में
देव ! हुंकरित हुआ कठिन युगधर्म तुम्हारे स्वर में
काँटों पर कलियों, गैरिक पर किया मुकुट का त्याग
किस सुलग्न में जगा प्रभो ! यौवन का तीव्र विराग

चले ममता का बंधन तोड़
विश्व की महामुक्ति की ओर

तप की आग, त्याग की ज्वाला में प्रबोध-संधान किया
विष पी स्वयं, अमिय जीवन का तृषित विश्व को दान किया
वैशाली की धूल चरण चूमने ललक ललचाती है
स्मृति-पूजन में तप कानन की लता पुष्प बरसाती है

वट के नीचे खड़ी खोजती लिये सुजाता खीर तुम्हें
बोधिवृक्ष-तल बुला रहे कलरव में कोकिल-कीर तुम्हें
शस्त्र-भार से विकल खोजती रह-रह धरा अधीर तुम्हें
प्रभो ! पुकार रही व्याकुल मानवता की जंजीर तुम्हें

आह ! सभ्यता के प्राङ्गण में आज गरल-वर्षण कैसा
घृणा सिखा, निर्वाण दिखानेवाला यह दर्शन कैसा
स्मृतियों का अन्धेर ! शास्त्र का दम्भ ! तर्क का छल कैसा
दीन-दुखी असहाय जनों पर अत्याचार प्रबल कैसा

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं
देव ! बना था क्या दुखियों के लिये निठुर संसार नहीं
धन-पिशाच की विजय, धर्म की पावन ज्योति अदृश्य हुई
दौड़ो बोधिसत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई

धूप-दीप, आरती, कुसुम ले भक्त प्रेमवश आते हैं
मन्दिर का पट बन्द देख 'जय' कह निराश फिर जाते हैं
शबरी के जूठे बेरों से आज राम को प्रेम नहीं
मेवा छोड़ शाक खाने का याद पुरातन नेम नहीं

पर गुलाब-जल में गरीब के अश्रु राम क्या पावेंगे
बिना नहाये इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे
मनुज-मेध के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए
कैसे बचें दीन ? प्रभु भी धनियों के गृह में बन्द हुए

अनाचार की तीव्र आँच में अपमानित अकुलाते हैं
जागो बोधिसत्व ! भारत के हरिजन तुम्हें बुलाते हैं
जागो विप्लव के वाक् ! दम्भियों के इन अत्याचारों से
जागो हे जागो तप-निधान ! दलितों के हाहाकारों से

जागो, गांधी पर किये गये नरपशु पतितों के वारों से
जागो, मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से

जागो गौतम ! जागो महान
जागो अतीत के क्रान्ति-गान
जागो जगती के धर्म-तत्व
जागो हे जागो बोधिसत्व

# शब्द-बेध

खेल रहे हिल-मिल घाटी में
कौन शिखर का ध्यान करे
ऐसा वीर कहाँ कि शैलरुह
फूलों का मधु-पान करे

लक्ष्यबेध है कठिन, अमा का
सूचि-भेद्य तम-तोम यहाँ
ध्वनि पर छोड़े तीर कौन यह
शब्दबेध संधान करे

'शूली ऊपर सेज पिया की'
दीवानी मीरा सो ले
अपना देश वही देखेगा
जो अशेष बलिदान करे

जीवन की जल गई फसल
तब उगे यहाँ दिन के दाने

लहराएगी लता, आग-बिजली
का तो सामान करे

सबकी अलग तरी अपनी
दो का चलता मिल साथ मना
पार जिसे जाना हो वह
तैयार स्वयं जलयान करे

फूल झरे, अलि उड़े, वाटिका
का मंगल-मधु स्वप्न हुआ
दो दिन का है संग हृदय
क्या हृदयों से पहचान करे

सिर देकर सौदा लेते हैं
जिन्हें प्रेम का रंग चढ़ा
फीका रंग रहा तो घर तज
क्या गैरिक परिधान करे

उस पद की मंजीर गूँजती
हो नीरव सुनसान जहाँ
सुनना हो तो तज वसन्त
निज को पहले वीरान करे

मणि पर तो आवरण ; दीप से
तूफाँ में कब काम चला

दुर्गम पन्थ, दूर जाना है
क्या पन्थी अनजान करे

तरी खेलती रहे लहर पर
यह भी एक समा कैसा
डाँड़ छोड़, पतवार तोड़कर
तू कवि ! निर्भय गान करे

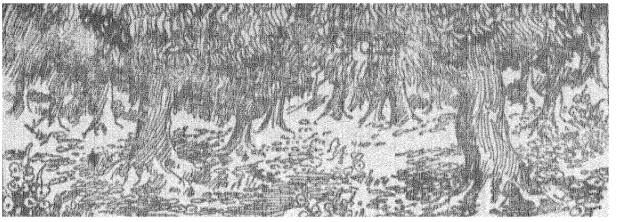

# मिथिला

मैं पतझड़ की कोयल उदास
बिखरे वैभव की रानी हूँ
मैं हरी - भरी हिम - शैल - तटी
की विस्मृत स्वप्न - कहानी हूँ

अपनी माँ की मैं वाम भृकुटि
गरिमा की हूँ धूमिल छाया
मैं विकल सांध्य रागिनी करुण
मैं मुरझी सुषमा की माया

मैं क्षीणप्रभा, मैं हत - आभा
सम्प्रति भिखारिणी मतवाली
खँडहर में खोज रही अपने
उजड़े सुहाग की हूँ लाली

मैं जनक कपिल की पुण्य जननि
मेरे पुत्रों का महा - ज्ञान

मेरी सीता ने दिया विश्व
की रमणी को आदर्श-दान

मैं वैशाली के आसपास
बैठी नित खँड़हर में अजान
सुनती हूँ साश्रु-नयन अपने
लिच्छवि-वीरों के कीर्त्ति-गान

नीरव निशि में गंडकी विमल
कर देती मेरे विकल प्राण
मैं खड़ी तीर पर सुनती हूँ
विद्यापति-कवि के मधुर गान

नीलम-घन गरज-गरज बरसें
रिमझिम रिमझिम रिमझिम अथोर
लहरें गाती हैं मधु-विहाग
'हे हे सखि! हमर दुख क न ओर'

चाँदनी-बीच घन-खेतों में
हरियाली बन लहराती हूँ
आती कुछ सुधि, पगली दौड़ी
मैं कपिलवस्तु को जाती हूँ

बिखरे लट, आँसू छलक रहे
मैं फिरती हूँ मारी-मारी

कण - कण में खोज रही अपनी
खोई अनन्त निधियाँ सारी

मैं उजड़े उपवन की मालिन
उठती मेरे हिय विषम हूक
कोकिला नहीं, इस कुंज - बीच
रह - रह अतीत - सुधि रही कूक

मैं पतझड़ की कोयल उदास
बिखरे वैभव की रानी हूँ
मैं हरी - हरी हिम-शैल - तटी
की विस्मृत स्वप्न - कहानी हूँ

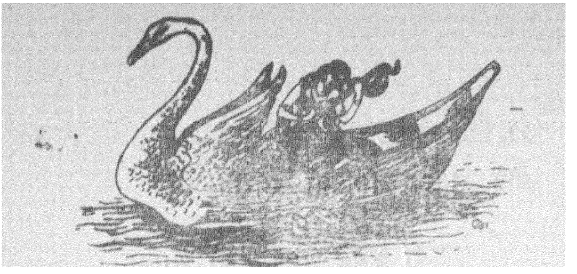

# कला-तीर्थ

पूर्णचन्द्र - चुम्बित निर्जन वन
विस्तृत शैलप्रान्त उर्वर थे
मसृण, हरित दूर्वा-सज्जित पथ
वन्य कुसुम-द्रुम इधर - उधर थे

पहन शुक्र का कर्ण-विभूषण
दिशा - सुन्दरी रूप - लहर से
मुक्त - कुन्तला मिला रही थी
अवनी को ऊँचे अम्बर से

कला - तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी वनफूल - नगर में
सहसा दीख पड़ी सोने की
हंसग्रीव नौका लघु सर में

पूर्णयौवना दिव्य सुन्दरी
जिसपर वीणा लिये निज कर में

मेद रही थी विपिन - शून्यता
भर शत स्वर्गों का मधु स्वर में

लहरें खेल रहीं किरणों से
हुलक रहे जल - कण पुरइन में
हलके यौवन थिरक रहा था
ओस - कणों-सा गान-पवन में

मैंने कहा—"कौन तुम वन में
रूप - कोकिला बन गाती हो
इस वसन्त - वन के यौवन पर
निज यौवन-रस बरसाती हो"

वह बोली—"क्या नहीं जानते
मैं सुन्दरता चिर - सुकुमारी
अविरत निज आभा से करती
आलोकित जगती की क्यारी

मैं अस्फुट यौवन का मधु हूँ
मदभोरी, रसमयी नवेली
प्रेममयी तरुणी का दृग-मद
कवियों की कविता अलबेली

वृन्त - वृन्त पर मैं कलिका हूँ
मैं किसलय-किसलय पर हिम-कण

फूल - फूल पर नित फिरती हूँ
दीवानी तितली - सी वन - वन

प्रेम - व्यथा के सिवा न दुख है
यहाँ चिरन्तन सुख की लाली
इस सरसी में नित मराल के
संग विचरती सुखी मराली

लगा लालसा - पंख मनोरम
आओ, इस आनन्द - भवन में
जी-भर पी लो आज अधर-रस
कल जो आग लगी जीवन में"

यौवन ! तृषा ! प्रेम ! आकर्षण
हाँ, सचमुच तरुणी मधुमय है
इन आँखों में अमर - सुधा है
इन अधरों में रस - संचय है

मैंने देखा, और दिनों से
आज कहीं मादक था हिमकर
उडुओं की मुसकान स्पष्ट थी
विमल व्योम. स्वर्णाभ सरोवर

लहर - लहर में कनक - शिखाएँ
झिलमिल झलक रहीं लघु सर में

कला - तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी सौन्दर्य - नगर में

बढ़ा और कुछ दूर विपिन में
देखा, पथ संकीर्ण, सघन है
दूब, फूल, रस, गंध न किंचित्
केवल कुलिश और पाहन हैं

झुरमुट में छिप रहा पंथ
ऊँचे - नीचे पाहन बिखरे हैं
दुर्गम पथ, मैं पथिक अकेला
इधर - उधर वन - जन्तु भरे हैं

कोमलप्रभ चढ़ रहा पूर्ण विधु
क्षितिज छोड़कर मध्य गगन में
पर देखूँ कैसे उसकी छवि
कहीं हार हो जाय न रण में

कुछ दूरी चल उस निर्जन में
देखा एक युवक अति सुन्दर
पूर्णस्वस्थ रक्ताभवदन, विकसित
प्रशस्त - उर, परम मनोहर

चला रहा फावड़ा अकेला
पोंछ स्वेद के बहु कण कर से

नहर काटता वह आता था
किसी दूरवाही निर्झर से

मैंने कहा—'कौन तुम' ? बोला
वह—"कर्त्तव्य, सत्य का प्यारा
उपवन को सींचने, लिये
जाता हूँ यह निर्झर की धारा

मैं बलिष्ठ आशा का सुत हूँ
विहँस रहा निज जीवन-रण में
तंद्रा, अलस मुझे क्यों घेरें
मैं अविरल तल्लीन लगन में

बाधाएँ घेरतीं मुझे, पर
मैं निर्भय नित मुसकाता हूँ
कुचल कुलिश-कंटक - जालों को
लक्ष्य - ओर बढ़ता जाता हूँ

भीत न हो पथ के काँटों से
भरा अमित आनन्द अजिर में
यहाँ दुःख ही ले जाता है
हमें अमर सुख के मन्दिर में

सुन्दरता पर कभी न भूलो
शाप बनेगी वह जीवन में

लक्ष्य - विमुख कर भटकायेगी
तुम्हें व्यर्थ फूलों के वन में

बढ़ो लक्ष्य की ओर, न अटको
मुझे याद रख जीवन-रण में"
उसके इस आतिथ्य - भाव से
व्यथा हुई कुछ मेरे मन में

वह रत हुआ कार्य में अपने
मैं श्रम-शिथिल बढ़ा निज पथ पर
"सुन्दरता या सत्य श्रेष्ठ है"
उठने लगा द्वन्द्व पग - पग पर

सुन्दरता आनन्द - मूर्त्ति है
प्रेम - नदी, मोहक, मतवाली
कर्म-कुसुम के बिना किन्तु, क्या
भर सकती जीवन की डाली

सत्य सींचता हमें स्वेद से
सुन्दरता मधु - स्वप्न - लहर से
कला - तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी कर्त्तव्य - नगर से

कुछ क्षण बाद मिला फिर मुझको
गंध, फूल, दूर्वामय प्रान्तर

हरी - भरी थी शैल - तटी त्यों
सघन रत्न - भूषित नीलाम्बर

दूबों की नन्हीं फुनगी पर
जगमग ओस बने आभा-कण
कुसुम आँकते उनमें निज छवि
जुगनू बना रही निज दर्पण

राशि - राशि वन-फूल खिले थे
पुलक - स्पन्दित वन-हृत्-शतदल
दूर - दूर तक फहर रहा था
श्यामल शैलतटी का अंचल

एक विन्दु पर मिले मार्ग दो
आकर दो प्रतिकूल विजन से
संगम पर था भवन कला का
सुन्दर घनीभूत गायन से

अमित प्रभा फैला जलता था
महाज्ञान - आलोक चिरन्तर
दीवारों पर स्वर्णांकित था
"सत्य भ्रमर, सुन्दरता गुंजन

प्रखर अजस्र कर्मधारा के
अन्तराल में छिप कम्पन-सी

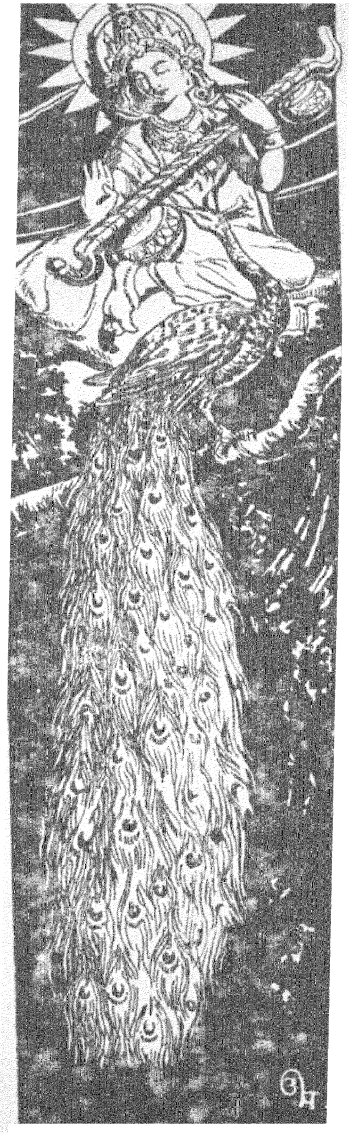

गा रही कविता युगों से मुग्ध हो
मधुर गीतों का न पर, अवसान है
चाँदनी की शेष क्यों होगी सुधा
फूल की रुकती न जब मुसकान है

चन्द्रिमा किस सुन्दरी की है हँसी
दूब यह किसकी अनन्त दुकूल है
किस परी के प्रेम की मधु कल्पना
व्योम में नक्षत्र, वन में फूल है

नत-नयन, कर में कुसुम-जयमाल ले
भाल में कौमार्य की बेंदी दिये
क्षितिज पर आकर खड़ी होती उषा
नित्य किस सौभाग्यशाली के लिये

धान की पी चन्द्रधौत हरीतिमा
आज है उन्मादिनी कविता-परी
दौड़ती तितली बनी वह फूल पर
लोटती भू पर जहाँ दूर्वा हरी

सुन्दरता गुंजार कर रही
भावों के अंतर्गायन - सी

प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है
जिधर अमर छवि लहराती है
उधर सत्य की प्रभा प्रेम बन
बेसुध - सी दौड़ी जाती है

प्रेमाकुल जब हृदय स्वयं मिट
हो जाता सुन्दरता में लय
दर्शन देता उसे स्वयं तब
सुन्दर बनकर सत्य निरामय"

❀ ❀

देखा, कवि का स्वप्न मधुर था
उमड़ी अमिय-धार जीवन में
पूर्णचन्द्र बन चमक रहे थे
'शिव' 'सुन्दर' आनन्द-गगन में

मानवता देवत्व हुई थी
मिले प्राण आनन्द अमर से
कला-तीर्थ में आज मिला था
महा सत्य भावुक सुन्दर से

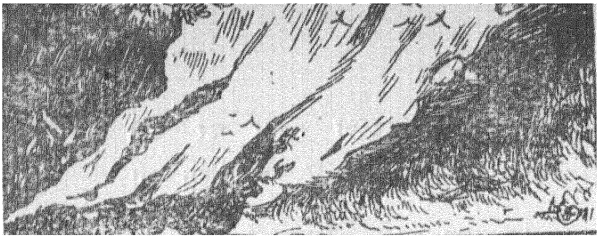

# निर्झरिणी

मधु - यामिनी अंचल - ओट में सोई थी
बालिका - जूही उमंग - भरी
विधु - रंजित ओस - कणों से भरी
थी बिछी वन - स्वप्न - सी दूब हरी

मृदु चाँदनी - बीच थी खेल रही
वन - फूलों से शून्य में इन्द्र - परी
कविता बन शैल - महाकवि के
उर से मैं तभी अनजान झरी

हरिणी - शिशु ने निज लास दिया
मधु राका ने रूप दिया अपना
कुमुदी ने हँसी, परियों ने उमंग
चकोरी ने प्रेम में यों तपना

नभ नील ने जन्म - घड़ी ही में नील
समुद्र का भव्य दिया सपना

'पी कहाँ' कह प्रेमी पपीहरे ने
सिखलाया मुझे 'पी कहाँ' जपना

गति-रोध किया गिरि ने; पर मैं
द्रुत भाग चली घहराती हुई
सरकी उपलों में भुजंगिनी-सी
मैं शिला से कहीं टकराती हुई

जननी-गृह छोड़ चली, मुड़ देखा
कभी न उसे ललचाती हुई
गिरि-शृंग से कूद पड़ी मैं अभय
'पी कहाँ?' 'पी कहाँ?' धुन गाती हुई

वनभूमि ने दूब के अंचल में
गिरि से गिरते मुझे छान लिया
गिरि-मल्लिका कुन्तल बीच पिरो
मुझको निज बालिका मान लिया

कलियों ने सुहाग के मोती दिये
नव ऊषा ने सिन्दूर-दान दिया
जगती को हरी लख मैंने हरी-हरी
दूबों का ही परिधान लिया

तट की हिमराशि की आरसी में
अपनी छवि देख दीवानी हुई

प्रिय - दर्शन - आकुल - लालसा में
पिघली, पल में घुल पानी हुई

टकराने चली मैं असीम के वृक्ष से
रूप के उभार की रानी हुई
उन्माद की रागिनी, बेकली की
अपनी ही मैं आप कहानी हुई

जननी - धरणी मुझे गोद लिये
थी सचेत कि मैं भग जाऊँ नहीं
वन - जन्तुओं के शिशु आन जुटे
कि सखा बिन मैं दुख पाऊँ नहीं

थी डरी मैं, पड़ी ममता में कहीं
इस देश में ही रह जाऊँ नहीं
प्रिय देखे बिना झर जाऊँ न व्यर्थ
कहीं छवि यों ही गँवाऊँ नहीं

एक रोज़ उनींदी हुई जो धरा
द्रुत भागी मैं आँख बचाती हुई
वन - वल्लरी - अंचल - बीच कहीं
तृण - पुंज में वेश छिपाती हुई

निकली द्रुम - कुंज की छाँह से तो
मैं चली फिर से घहराती हुई

सिकता - से पिपासित विश्व के कंठ में
स्वर्ग - सुधा सरसाती हुई

× × : × ×

वनदेवि ! द्रुमांचल श्याम हिला
फिरने का करो न इशारा मुझे
उपलो ! पद यों न गहो, भुज खोल
न बाँध तू हाय ! किनारा ! मुझे

किसकी ध्वनि दूर से आई ? पुकार
रहा सुन अम्बुधि प्यारा मुझे
जननी धरणी ! तिरछी हो जरा
अरी वेग से खींच तू धारा ! मुझे

अभिसारिका मैं मिलने हूँ चली,
प्रिय - पंथ रे कोई बताना जरा
किस शूली पै 'मीरा' - पिया की है सेज
इशारों से कोई दिखाना जरा

पथ - भूली - सी कुंज में राधिका के
हित श्याम ! तू वेणु बजाना जरा
तुझमें प्रिय ! खोने को तो आ रही
पर तू भी गले से लगाना जरा

# जागरण

[ वसन्त के प्रति शिशिर की उक्ति ]

मैं शिशिर - शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

खोल दृग, मधु नींद तज, तंद्रालसे ! रूपसि विजन की
साज नव शृंगार, मद - घट संग ले कर सुधि भुवन की
विश्व में तृण - तृण जगी है आज मधु की प्यास आली
मैं शिशिर - शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

वर्ष की कविता सुनाने खोजते पिक मौन भोले
स्पर्श कर द्रुत बौरने को आम्र आकुल बाँह खोले
पंथ में कोरकवती जूही खड़ी ले नम्र डाली
मैं शिशिर - शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

लौट जाता गंधवह सौरभ बिना फिर - फिर मलय को
पुष्पशर चिन्तित खड़ा संसार के उर की विजय को
मौन खग विस्मित—'कहाँ अटकी मधुर उल्लासवाली'
मैं शिशिर - शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

चाँदनी विह्वल भिगोयेगी मृदुल शय्या सुमन की
अंक भर लेगी पिया तब भूल सुधि मद-स्रस्त तन की
रँग रहा यौवन कनक से कल्पना मन की निराली
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

मुक्त करने को विकल है लाज की, मधु-प्रीति, कारा
विश्व-यौवन की शिरा में नाचने को रक्तधारा
चाहती छाना दृगों में आज तजकर गाल, लाली
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

है विकल उल्लास वसुधा के हृदय से फूटने को
प्रात-अंचल-ग्रन्थि से नव रश्मि चंचल छूटने को
भृंग मधु पीने खड़े उद्यत लिये कर रिक्त प्याली
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

इन्द्र की धनुषी बनी तितली पवन में डोलती है
अप्सरी भू-पर्यटन को पंख-पट निज खोलती है
आज बन साकार छाने उमड़ते कवि-स्वप्न आली
मैं शिशिर-शीर्णा चली, अब जाग ओ मधुमासवाली

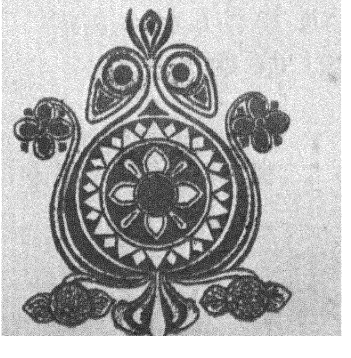

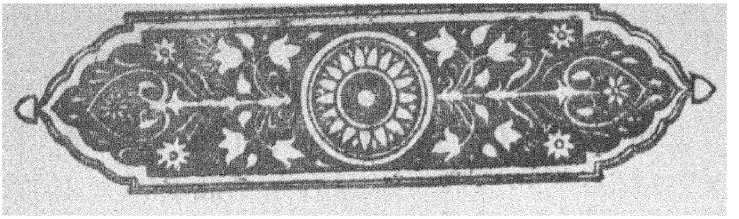

# राजा-रानी

राजा वसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी
लेकिन दोनों की कितनी भिन्न कहानी
राजा के मुख में हँसी, कंठ में माला
रानी का अन्तर विकल, दृगों में पानी

डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने
परियाँ सेवा में खड़ीं सजाकर दोने
खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आई
उमड़ी जाने क्या व्यथा, लगी वह रोने

रानी रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से
राजा अबोध खेलें कचनार-कमल से
राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे
सींचो न धरा यदि तुम आँसू के जल से

लेखनी लिखे मन में जो निहित व्यथा है
रानी की सब दिन गीली रही कथा है

त्रेता के राजा क्षमा करें यदि बोलूँ—
राजा-रानी की युग से यही प्रथा है

विधु संग संग चाँदनी खिली वन-वन में
सीते ! तुम तो खो रही चरण-पूजन में
तो भी यह अग्नि-विधान ! राम निष्ठुर हैं
रानी ! जनमी थी तुम किस अशुभ लगन में

नृप हुए राम, तुमने विपदाएँ झेलीं
थी कीर्त्ति उन्हें प्रिय तुम वन गई अकेली
वैदेहि ! तुम्हें माना कलंकिनी प्रिय ने
रानी ! करुणा की तुम भी विषम पहेली

रो-रो राजा की कीर्त्तिलता पनपाओ
रानी ! आयसु है लिये गर्भ वन जाओ
सूखो सरयू ! साकेत भस्म हो, रानी
माँ के उर में छिप रहो न मुख दिखलाओ

औ' यहाँ कौन यह विधु की मलिन कला-सी
संध्या-सुहाग-सी, तेज-हीन चपला-सी
अयि मूर्त्तिमती करुणे द्वापर की ! बोलो
तुम कौन मौन क्षीणा अलका-अबला-सी

अयि शकुन्तले ! कैसा विषाद आनन में
रह-रह किसकी सुधि कसक रही है मन में

प्याली थी वह विष-भरी, प्रेम में भूली
पी गई जिसे भोली तुम लता-वन में

माधवी-कुंज की मादक प्रणय-कहानी
नयनों में है साकार आज बन पानी
पुतली में रच तसवीर निठुर राजा की
रानी रोती फिरती वन-वन दीवानी

राजा हँसते हैं, हँसे तुम्हें रोना है
मालिन्य मुकुट का भी तुमको धोना है
रानी ! विधि का अभिशाप यहाँ ऊसर में
आँसू से मोती-बीज तुम्हें बोना है

किरणों का कर अवरोध उड़ा अंचल है
छाया में राजा मना रहा मंगल है
रानी ! राजा को ज्ञात न, पर अनजाने
भ्रू-इंगित पर वह घूम रहा पल-पल है

वह नव वसन्त का कुसुम और तुम लाली
वह पावस-नभ, तुम सजल घटा मतवाली
रानी ! राजा की इस सूनी दुनिया में
बुनती स्वप्नों से तुम सोने की जाली

सुख की तुम मादक हँसी, आह दुर्दिन की
सुख-दुख दोनों में विभा इन्दु अमलिन की

प्राणों की तुम गुंजार, प्रेम की पीड़ा
रानी ! निशि का मधु, और दीप्ति तुम दिन की

पग-पग पर झरते कुसुम सुकोमल पथ है
रानी ! कबरी का बन्ध तुम्हारा श्लथ है
झिलमिला रही मुसकानों से अँधियाली
चलता अबाध निर्भय राजा का रथ है

छिटकी तुम विद्युत-शिखा, हुआ उजियाला
तम-विकल सैनिकों में संजीवन डाला
हल्दीघाटी हुंकार उठी जब रानी
तुम धधक उठी बनकर जौहर की ज्वाला

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में
भू पर रानी जूही, गुलाब राजा है
राजा-रानी हैं सूर्य-सोम अम्बर में

# मिथिला में शरत्

किस स्वप्न-लोक से छवि उतरी

ऊपर निरभ्र नभ नील नील
नीचे घन-विम्बित झील-झील
उत्तर किरीट पर कनक-किरण
पद-तल मन्दाकिनि रजत-वरण

छलकी कण-कण में दिव्य सुधा
बन रही स्वर्ग मिथिला-वसुधा
तन की साड़ी द्युति सघन श्याम
तरु, लता, धान, दूर्वा ललाम
दायें कोशल ले अर्घ्य खड़ा
आरती वंग ले वाम-वाम

दूबों से लेकर बाँसों तक
गृह-लता सरित-तट कासों तक
हिल रही पवन में हरियाली
वसुधा ने कौन सुधा पा ली

गाती धनखेतों-बीच परी
किस स्वप्न-लोक से छवि उतरी

क्या शरत्-निशा की बात कहूँ
जो कुछ देखा था रात कहूँ
निर्मल ऋतु की मुख-भरी हँसी
चाँदनी विसुध भू आन खसी
मदरसा, विकल, मदमाती-सी
अपने सुख में न समाती-सी

गंडकी सुप्त थी रेतों में
पंछी चुप नीड-निकेतों में
'चुप-चुप' थी शान्ति सभी घर में
चाँदनी सजग थी जग-भर में
हाँ, कम्प जरा हरियाली में
थी आहट कुछ वैशाली में

इतने में (उफ्! कविता उमड़ी)
खँडहर से निकली एक परी
गंडकी-कूल खेतों में आ
हरियाली में हो गई खड़ी

लट खुली हुई लहराती थी
मुख पर आवरण बनाती थी

सपनों में भूल रहा मन था
उन्मन दृग में सूनापन था

धानी दुकूल गिर धानों पर
मंजरी-साथ कुछ रहा लहर
लम्बी बाँहें गोरी-गोरी
उँगलियाँ रूप-रस में बोरी

कर कभी धान से आलिङ्गन
लेती मंजरियों का चुम्बन
गंडकी ओर फिर दृष्टि फेर
देखती लहर को बड़ी देर
हेरती मर्म की आँखों से
वह कपिलवस्तु-दिशि बेर-बेर

शारद निशि की शोभा विशाल
जगती-ज्योत्स्ना का स्वर्ण-ताल
श्यामल, शुभ शस्यों का प्रसार
गंडक मिथिला का कंठहार
चन्द्रिका - धौत बालुका-कूल
कंपित कासों के श्वेत फूल

वह देख-देख हर्षाती है
कुछ छिगुन-छिगुन रह जाती है

"मिथिला विमुक्त कर हृदय-द्वार
है लुटा रही सौन्दर्य, प्यार
कोई विद्यापति क्यों न आज
चित्रित कर दे छवि गान व्याज
कोई कविता मधु-लास्यमयी
अविच्छिन्न अनन्त विलासमयी
चाँदनी धुली पी हरियाली
बनती न हाय, क्यों मतवाली"

शेखर की याद सताती है
वह छिगुन-छिगुन रह जाती है
मैं नहीं चाहता चिर-वसन्त
जूही-गुलाब की छवि अनन्त
ग्रीषम हो तरु की छाँह रहे
पावस हो प्रिय की बाँह रहे
हो शीत या कि ऊष्मा ज्वलन्त
मेरे गृह में अक्षय वसन्त

औ' शरत्, अभी भी क्या गम है
तू ही वसन्त से क्या कम है

है बिछी दूर तक दूब हरी
हरियाली ओढ़े लता खड़ी

कासों के हिलते श्वेत फूल
फूली छतरी ताने बबूल
अब भी लजवन्ती झीनी है
मंजरी बेर रस-भीनी है

कोयल न ( रात वह भी कूकी
तुझपर रीझी, वंशी फूँकी )
कोयल न कीर तो बोले हैं
कुररी मैना रस घोले हैं
कवियों की उपमा की आँखें
खंजन फड़काती है पाँखें

रजनी बरसाती ओस ढेर
देती भू पर मोती बिखेर
नभ नील, स्वच्छ, सुन्दर तड़ाग
तू शरत् न शुचिता का सुहाग

औ' शरत्-गंग ! लेखनी, आह
शुचिता का यह निर्मल प्रवाह
पल-भर निमग्न इसमें हो ले
वरदान माँग, किल्विष धो ले

गिरिराज - सुता सुषमा-भरिता
जल-स्रोत नहीं, कविता-सरिता

यह कोमल कास विकासमयी
वह बालिका पावन हासमयी
यह पुण्य-विकासिनि, दिव्य विभा
वह भाव-सुहासिनि, प्रेम-प्रभा

हे जन्मभूमि ! शत बार धन्य
तुझ-सा न 'सिमरियाघाट' अन्य
तेरे खेतों की छवि महान
अनिमन्त्रित आ उर में अजान
भावुकता बन लहराती है
फिर उमड़ गीत बन जाती है

'बाया' की यह कृश विमल धार
गंगा की यह दुर्गम कछार
कूलों पर कास-परी फूली
दो-दो नदियाँ तुझपर भूलीं

कल-कल कर प्यार जताती हैं
छू पार्श्व सरकती जाती हैं

शारद सन्ध्या यह उगा सोम
बन गया सरित में एक व्योम
शेखर-उर में अब बिधें बाण
सुन्दरियाँ यह कर रहीं स्नान

आग्रीव वारि के बीच खड़ी
गा रही मधुर प्रत्येक परी

बिछली पड़तीं किरणें जल पर
नाचती लहर पर स्वर-लहरी

यह वारि-बेलि फैली अमूल
खिल गये अनेकों कंज-फूल
लट नहीं, मुग्ध अलिवृन्द श्याम
कंजों की छवि पर रहे भूल

डुबकी रमणियाँ लगाती हैं
लट ऊपर ही लहराती है
जल-मग्न कमल को खोज-खोज
मधुपावलियाँ मँड़राती हैं

लेकिन, नालों पर कंज कहाँ
ऐसे, जैसे ये खिले यहाँ

नीचे आने विधु ललक रहा
मृदु चूम परी की पलक रहा
वह स्वर्ग-बीच ललचाता है
भू पर रस-प्याला छलक रहा

परियाँ अब जल से चलीं निकल
तन से लिपटे भींगे अंचल
चू रही चिकुर से वारि-धार
मुख-शशि-भय रोता अन्धकार

विद्यापति ! सिक्त वसन तन में
मन्मथ जागे न मुनी-मन में

कवि ! शरत्-निशा का प्रथम प्रहर
कल्पना तुम्हारी उठी लहर
कविता कुछ लोट रही तट में,
लिपटी कुछ सिक्त परी-पट में

कुछ मैं स्वर में दुहराता हूँ
निज कविता मधुर बनाता हूँ

गंगा-पूजन का साज सजा
कल कंठ-कंठ में तार बजा
स्वर्गिक उल्लास उमंग यहाँ
पट में सुर-धनु के रंग यहाँ

तुलसी-दल से परिपूत हृदय
अति पावन पुण्य-प्रसंग यहाँ
तितलियाँ प्रदीप जलाती हैं
शेखर की कविता गाती हैं

गंगे ! ये दीप नहीं बलते
लघु पुण्य-प्रभा-कण हैं जलते
अन्तर की यह उजियारी है
भावों की यह चिनगारी है

## कवि

नवल उर में भर विपुल उमंग
विहँस कल्पना - कुमारी - संग
मधुरिमा से कर निज शृंगार
स्वर्ग के आँगन में सुकुमार

मनाते निज उत्सव - आनन्द
कौन तुम पुलकित राजकुमार

फैलावा वन - वन आज वसन्त
सुरभि से भरता अखिल दिगन्त
प्रकृति आकुल यौवन के भार
सिहर उठता रह - रह संसार

विहँग - कूल का यह मधुमय गान
बनो कवि ! फूलों की मुसकान

सरित सम पर देती है ताल
चन्द्र बुनता किरणों का जाल

सरल शिशु-सा सोता है विश्व
ओढ़ सपनों के वसन विशाल

निशा का परम मधुर यह हास
बनो कवि ! रत्न-खचित आकाश

विरह से व्याकुल तप्त शरीर
नयन से झरता झर-झर नीर
जलन से झुलस रहे सब गात
जुड़ी है आँखों की बरसात

सिसक-संयुक्त अति करुण उसाँस
बनो कवि ! सावन - भादो मास

न उपवन का वह विभव-विलास
न कलियों का मृदु गंधोच्छ्वास
लता, तरुओं की शुष्क कतार
यही हैं उपवन के शृंगार

काल का अति निर्मम आघात
बनो कवि ! तरु का मर्मर-पात

मधुर यौवन-स्वप्नों में भूल
और फँस वैभव के छवि-जाल
वासना - आसव का कर पान
मनुजता हुई बहुत बेहाल

अचिर अन्तर्हित हों सब क्लेश
लिखो कवि ! अमर स्वर्ण-सन्देश

न लिखता उपवन में सुकुमार
सुमन कोई अक्षय छविमान
क्षणिक निशि का हीरक-शृंगार
उषा की क्षणभंगुर मुसकान

क्षणिक चंचल जीवन नादान
हँसो कवि ! गाकर ऐसे गान

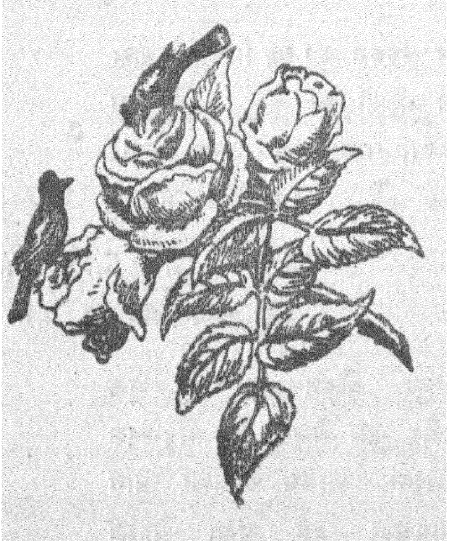

## फूल

अवनी के नक्षत्र ! प्रकृति के उज्ज्वल मुक्त हार
उपवन - दीप ! दिवा के जुगनू ! वन के दृग सुकुमार
मेरी इस कल्पना - लहर से पुलकाकुल, उद्भ्रान्त
उर में मचल रहे लघु - लघु भावों से कोमल कान्त
वृन्तों के कोमल दीपों पर झिलमिल ज्योति पसार
आलोकित कर रहे आज क्यों अमापूर्ण संसार

कहो, कहो, किन परियों की मुसकानों में कर स्नान
कहाँ चन्द्र - किरणों में धुल - धुल बने दिव्य अम्लान
किस रुपहरी सरित में धो-धो किया वस्त्र - परिधान
चले ज्योति के किस वन को हे परदेशी अनजान
मलयानिल के मृदु झोकों में तनिक सिहर झुक झूल
मन - ही - मन क्या सोच मौन रह जाते मेरे फूल
निज सौरभ से सुरभित, अपनी आभा में द्युतिमान
मुग्धा - से अपनी ही छवि पर भूल पड़े छविमान
अपनी ही सुन्दरता पर विस्मित नव आँखें खोल
हँसते झाँक - झाँक सरसी में निज प्रतिछाया लोल

रच - से रहे स्वर्ग भूतल पर लुटा मुक्त आनन्द
कवि को स्वप्न, अनिल को सौरभ, अलि को दे मकरन्द
नभ के तारे दूर, अलभ इस अतल जलधि के सीप
देव नहीं, हम मनुज इसी से प्रिय तुम भूमि - प्रदीप

गत जीवन की व्यथा न भावी का हो चिन्ता-क्लेश
घाटी में रच दिया तुम्हीं से प्रभु ने मोहक देश
करो, करो, ऊषा के कंचन - सर में वारि - विहार
सोओ रजनी के अंचल में सोओ हे सुकुमार

जबतक वास वृन्त पर तबतक विमल हास निर्द्वन्द्व
मेरे कुसुम ! कहाँ पाया यह अभय मुक्त आनन्द
जग के अकरुण आघातों से जर्जर मेरा तन है
आँसू, दर्द, वेदना से परिपूरित यह जीवन है

सूख चुका कब को ही मेरी कलियों का मकरंद
क्या जानूँ जीवन में कैसा होता है आनन्द
उर की दैवी व्यथा कहाती जग में आज प्रलाप
कविता ही बन रही हाय ! मेरे जीवन का शाप

आशा के इंगित पर घूमा दर - दर हाथ पसार
इस अंजलि में दिया किसी ने भी न तृप्ति - उपहार
जीवन के अणु - अणु में भर युग - संचित हाहाकार
सुन्दरता पर भूल खड़ा हूँ सुमन ! तुम्हारे द्वार

हिल - मिल मोद - पर्व में पल-भर सकूँ वेदना भूल
हँस दो ऐसी हँसी निरन्तर हँसनेवाले फूल

# विरह-छवि

मैं तुझे खींचता हूँ पल-पल, तू और बढ़ा-सा जाता है
मन, जिसे समझता तू सुन्दर उस जग से कब का नाता है
कुछ विस्मृत-सा परिचय है क्या जिससे बढ़ता है प्यार
कण-कण में कौन छिपा अपना जो मुझको रहा पुकार

मधुर कैसी है यह नगरी
धन्य री जगती पुलक-भरी

निराशा की पलकों को खोल
तनिक देखो तो इसकी ओर
बहा-सा बेहोशी में कहाँ
चला जाता यह विश्व विभोर

मधुरता की बूँदों से सिक्त
सिहरता रह-रह जगत पुनीत
विश्व है मादकता का स्रोत
विश्व है एक सरस संगीत

चन्द्रिमा - पट का कर परिधान
सजा नक्षत्रों से शृंगार
प्रकृति पुलकाकुल आँखें खोल
देखती निज सुवर्ण - संसार

चमकते तरु पर झिलमिल फूल
बौर जाता है कभी रसाल
अंक में लेकर नीलाकाश
कभी दर्पण बन जाता ताल

चहकती चित्रित मैना कहीं
कहीं उड़ती कुसुमों की धूल
चपल तितली सुकुमारी कहीं
दीखती फुदक रहे ज्यों फूल

हरे वन के कंठों में कहीं
स्रोत बन जाते उज्ज्वल हार
पिघलकर चाँदी ही बन गई
कहीं गंगा की झिलमिल धार

उतरती हरे खेत में इधर
खींचकर संध्या स्वर्ण - दुकूल
व्योम की नील वाटिका - बीच
उधर हँस पड़ते अगणित फूल

वन्य तृण भी तो पुलक-विभोर
पवन में झूम रहे स्वच्छन्द
प्रकृति के अंग-अंग से अरे
फूटता है कितना आनन्द

देख मादक जगती की ओर
झनकते हृत्तंत्री के तार
उमड़ पड़ते उर के उच्छ्वास
धन्य स्रष्टा ! तेरा व्यापार

स्रष्टा धन्य, विविध सुमनों से सजी धन्य यह फुलवारी
पा सकतीं क्या इंद्रपुरी में भी आँखें यह छवि प्यारी

फूलों की क्या बात ? बाँस की हरियाली पर मरता हूँ
अरी दूब, तेरे चलते जगती का आदर करता हूँ

किसी लोभ से इसे छोड़ दूँ, यह जग ऐसा स्थान नहीं
और बात क्या ? बहुधा मैं चाहता मुक्ति-वरदान नहीं
इस उपवन की ओर न आऊँ, ऐसी मुक्ति न मैं लूँगा
अपने पर कृतघ्नता का अपराध न लगने मैं दूँगा

इच्छा है, सौ-सौ जीवन पा इस भूतल पर आऊँ मैं
घनी पत्तियों की हरियाली से निज नयन जुड़ाऊँ मैं

तरु के नीचे बैठ सुमन की सरस प्रशंसा गाऊँ मैं
नक्षत्रों में हँसूँ, ओस में रोऊँ और रुलाऊँ मैं

मेरे काव्य-कुसुम से जग का हरा-भरा उद्यान बने
मेरी मृदु कविता भावुक परियों का कोमल गान बने

विधि से रंजित पंख माँग मैं उड़-उड़ व्योम-विहार करूँ
गगनांगण के बिखरे मोती से माला तैयार करूँ

किसी बाल-युवती की ग्रीवा में वह हार पिन्हाऊँ मैं
हरी दूब पर चंद्र-किरण में सम्मुख उसे बिठाऊँ मैं

श्वेत, पीत, बैजनी कुसुम से मैं उसका शृंगार करूँ
कविता रचूँ, सुनाऊँ उसको, हृदय लगाऊँ प्यार करूँ

मलयानिल बन नव गुलाब की मादक सुरभि चुराऊँ मैं
विधु का बन प्रतिबिम्ब सरित के उर-भीतर छिप जाऊँ मैं

किरण-हिंडोरे पर चढ़कर मैं बढ़ूँ कभी इस नभ की ओर
करूँ कभी प्लावित बन-उपवन बन खग की स्वर-सरित-हिलोर

इच्छा है, मैं बार-बार कवि का जीवन लेकर आऊँ
अपनी प्रतिभा के प्रदीप से जग की अमा मिटा जाऊँ

नाथ, मुझे भावुकता, प्रतिभा का प्यारा वरदान मिले
हरी तलहटी की गोदी में सुन्दर वास स्थान मिले

उधर झरे भावुक पर्वत-उर से निर्झरिणी सुकुमारी
सहस स्रोत में इधर हृदय से फूट पड़े कविता प्यारी

कुसुमों की मुसकान देखकर
उज्ज्वल स्वर्ण-विहान देखकर
थिरक उठे यह हृदय मुग्ध हो
बरस पड़े आनन्द

अचानक गूँज उठे मृदु छन्द—
'मधुर कैसी है यह नगरी
धन्य री जगती पुलक-भरी'

# सन्ध्या-सुन्दरी

नीरव, प्रशान्त जग, तिमिर गहन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

किसकी किंकिणी-ध्वनि ? मौन विश्व में झनक उठा किसका कंकन
झिल्ली-स्वन ? संध्या श्यामपरी की हृदय-शिराओं का गुंजन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

अन्तिम किरणें भर गईं ऊर्मि-
अधरों में मोती के चुम्बन
वन-कुसुम-वृन्त पर ऊँघ रहे
दूर्वा-मुख सींच रहे हिम-कन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

नीलिमा-सलिल में अमा खोल
कलिका-गुम्फित कबरी-बंधन
लहरों पर बहती इधर-उधर
कर रही व्योम में अवगाहन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

मुक्ता कुन्तल में गूँथ, शुक्र का
पहन कुसुम - कर्णाभूषण
दिग्वधू क्षितिज पर बजा रही
मंजीर चपल कँप रहे चरण
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

यह भुवन - प्राण-संत्री का स्वन
लघु तिमिर-वीचियों का कम्पन
यह अमा-हृदय का कथा गुनगुन
किस विरह-गीत का स्वर उन्मन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन

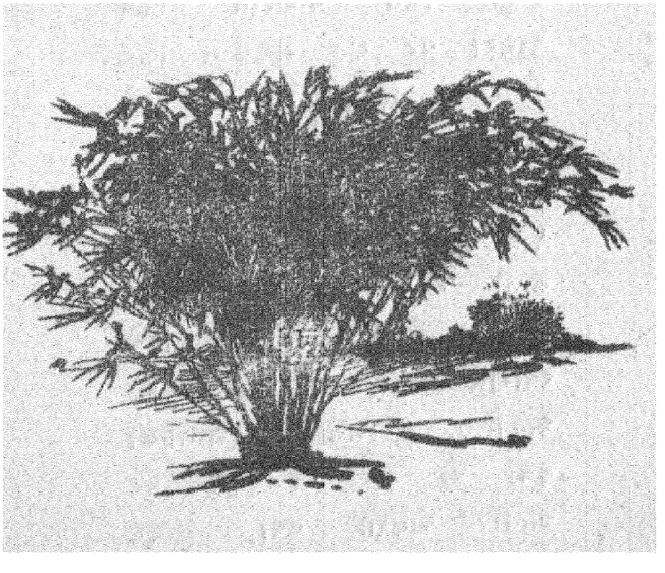

# प्रबोधन

कैसा होगा वह नन्दन-वन
सखि ! जिसकी स्वर्ण-तटी से तू स्वर में भर-भर लाती मधुकर

कुंकुम - अंजित परिधान किये
अधरों पर मृदु मुसकान लिये
गिरि-जा निर्झरिणी को रँगने
कंचन-घट में सामान लिये
नत नयन लाल कुछ गाल किये
पूजा - हित कंचन - थाल लिये
ढोती यौवन का भार, अरुण
कौमार्या विन्दु निज भाल दिये
स्वर्णिम दुकूल फहराती - सी
अलसित, सुरभित, मदमाती-सी
दूबों से हरी-भरी भू पर
आती षोडशी उषा सुन्दर

हँसता निर्झर का उपल-कूल
लख तृण, तरु पर नव छवि दुकूल
तलहटी चूमती चरण-रेणु
डगते पद-पद पर अमित फूल

तब तृण-झुरमुट के बीच कहाँ देते हैं पंख भिगो हिमकण
किस शान्त तपोवन में बैठी तू रचती गीत सरस पावन

यौवन का प्यार-भरा मधुवन
खेलता जहाँ हँसमुख बचपन
कैसा होगा वह नन्दन-वन

गिरि के पदतल पर आस-पास
मखमली दूब करती विलास
भावुक पर्वत के उर से झर
बह चली काव्यधारा—निर्झर

हरियाली में बजियाली-सी
पहने दुर्वा-सी हरित चीर
नव चन्द्रमुखी मतवाली-सी

पद-पद पर छितराती दुलार
बन हरित भूमि का कंठ-हार

तनता भू पर शोभा-वितान
गाते खग द्रुम पर मधुर गान

अकुला उठती गंभीर दिशा
चुप हो सुनते गिरि लगा कान

रोमन्थन करती मृगी कहीं
कूदते अंग पर मृग-कुमार
अवगाहन कर निर्झर-तट पर
लेटे हैं कुछ मृग पर पसार

टीलों पर चरती गाय सरल
गो-शिशु पीते माता का थन
ऋषि बालाएँ ले-ले लघु घट
हँस-हँस करतीं द्रुम-दल-सिंचन

तरु-तल सखियों से घिरी हुई वल्कल से कस कुच का उभार
विरहिणि शकुन्तला आँसू से लिखती मन की पीड़ा अपार
ऊपर पत्तों में छिपी हुई तू उसका मृदु हृदय-स्पन्दन
अपने गीतों की कड़ियों में भर-भर करती कूलित कानन

वह साम-गान-मुखरित उपवन
जगती की बाल-स्मृति पावन
वह तप-कानन ? वह नन्दन-वन

किन कलियों ने भर दी श्यामा
तेरे सुकंठ में यह मिठास
किस इन्द्र-परी ने सिखा दिया
स्वर का कंपन, लय का विलास

भावों का यह व्याकुल प्रवाह
अन्तरतम की यह मधुर तान
किस विजन वसन्त-भरे वन में
सखि ! मिला तुझे स्वर्गीय गान

थे नहा रहे चाँदनी-बीच जब गिरि, निर्झर, वन विजन गहन
तब वनदेवी के साथ बैठ कब किया कहाँ सखि ! स्वर-साधन

परियों का वह शृंगार-सदन
कवितामय है जिसका कण-कण
कैसा होगा वह नन्दन - वन
सखि ! जिसकी स्वर्ण-तटी से तू स्वर में भर-भर लाती मधुकर

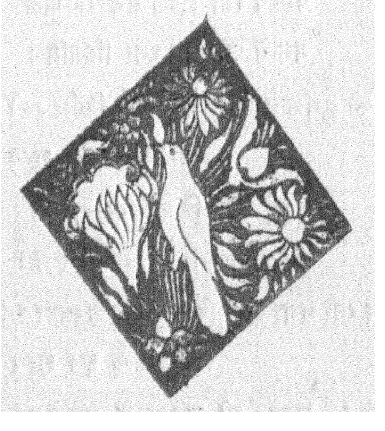

# विभावरी

जीवन के इस शून्य सदन में
जलता है यौवन-प्रदीप; हँसता तारा एकान्त गगन में
जीवन के इस शून्य सदन में

पल्लव रहा शुष्क तरु पर हिल
मरु में फूल चमकता झिलमिल

ऊषा की मुसकान नहीं, यह संध्या विहँस रही उपवन में
जीवन के इस शून्य सदन में

उजड़े घर, निर्जन खँडहर में
कंचन-थाल लिये निज कर में

रूप-आरती सजा खड़ी किस सुन्दर के स्वागत-चिन्तन में
जीवन के इस शून्य सदन में

सूखी-सी सरिता के तट पर
देवि! खड़ी सूने पनघट पर

अपने प्रियदर्शन अतीत को कविता बाँच रही हो मन में
जीवन के इस शून्य सदन में

नवयौवन की चिता बनाकर
आशा-कलियों को स्वाहा कर
भग्न-मनोरथ की समाधि पर तपस्विनी बैठी निर्जन में
जीवन के इस शून्य सदन में

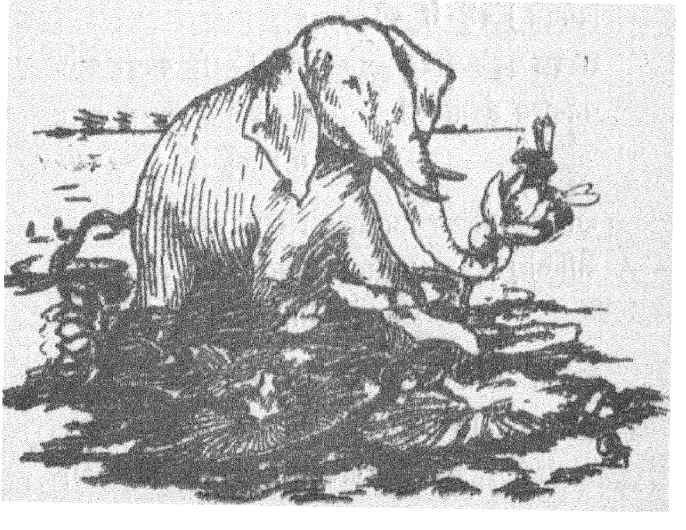

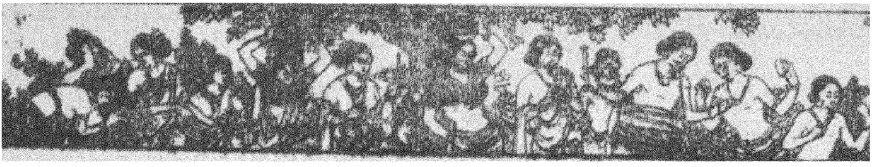

# साधना

प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या
शतदल मृदुल जीवन-कुसुम में प्रिय ! सुरभि बनकर बसो
घन-तुल्य हृदयाकाश पर मृदु-मन्द-गति विचरो सदा
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या

दृग बन्द हों तब तुम सुनहले स्वप्न बन आया करो
अमितांशु ! इन जड प्राण में प्रसरित करो अपनी प्रभा
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या

तडु-खचित नीलाकाश में ज्यों हँस रहा राकेश है
दुखपूर्ण जीवन-बीच त्यों जाग्रत करो अव्यय विभा
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या

निर्वाण-जलधि अगम बड़ा, नौका लिये रहना खड़ा
कर पार सीमा विश्व की जिस दिन कहूँ 'वन्दे विदा'
प्रियतम ! कहूँ मैं और क्या

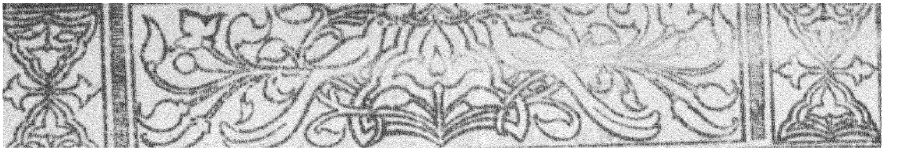

# विरह-योगिनी

मैं योगिनि निज राम पिया की
अम्बर ढूँढ़ धरणि पर आई
निशि-छवि देख मुदित अकुलाई
ज्योत्स्ना-धौत सरित, तृण, तरु, वन
प्रति छवि मम पिय की परछाँई

मैं पगली निशि-भर चूमी
फूलों में मधुर विभा रसिया की
मैं योगिनि निज राम पिया की

मेरे अश्रु जगत के सावन
उर-कम्पन तारों के स्पन्दन
विरह निरावधि, मैं मतवारी
चिर-तरुणी, बावली, व्यथित मन

युग से कूक रही वन-वन
कोयल बन मेरी हूक हिया की
मैं योगिनि निज राम पिया की

बजा चरण - ध्वनि घन-रमझम में
झमक झाँक छिप कुसुम-कुसुम में
निकट, दूर क्षण-क्षण उग प्रियतम
आते डूब अगाध, अगम में

तलफ रही किस विधि पाऊँ
फिर गोद मधुर बालम झुलिया की
मैं योगिनि निज राम पिया की

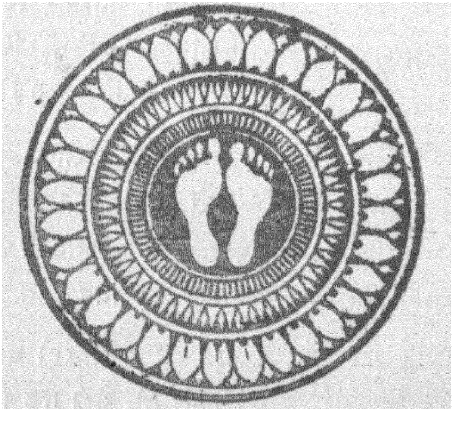

फूँक दे जो प्राण में उत्तेजना
गुण न वह इस बाँसुरी की तान में
जो चकित करके कँपा डाले हृदय
वह कला पाई न मैंने गान में

जिस व्यथा से रो रहा आकाश यह
ओस के आँसू बहाकर फूल में
ढूँढ़ती उसकी दवा मेरी कला
विश्व-वैभव की चिता की धूल में

कूकती असहाय मेरी कल्पना
कब्र में सोए हुओं के ध्यान में
खँडहरों में बैठ भरती सिसकियाँ
विरहिणी कविता सदा सुनसान में

देख क्षण-क्षण में सहमता हूँ अरे
व्यापिनी क्षणभंगुता संसार की
एक पल ठहरे जहाँ जग हो अभय
खोज करता हूँ उसी आधार की

# परदेशी

माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी
भय है सुनकर हँस दोगे मेरी नादानी परदेशी
सृजन-बीच संहार छिपा, कैसे बतलाऊँ परदेशी
सरल कंठ से विषम राग कैसे मैं गाऊँ परदेशी

एक बात है सत्य कि झड़ जाते हैं खिलकर फूल यहाँ
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहाँ
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहाँ
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहाँ
इस उपवन की पगडंडी पर बचकर जाना परदेशी
यहाँ मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी

जगती में मादकता देखी, लेकिन अक्षय तत्त्व नहीं
आकर्षण में तृप्ति, और सुन्दरता में अमरत्व नहीं
यहाँ प्रेम में मिली विकलता, जीवन में परितोष नहीं
बाल-युवतियों के आलिंगन में पाया संतोष नहीं

हमें प्रतीक्षा में न तृप्ति की मिली निशानी परदेशी
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी

महाप्रलय की ओर सभी को इस मरु में चलते देखा
किससे लिपट जुड़ाता ? सबको ज्वाला में जलते देखा
अन्तिम बार चिता-दीपक में जीवन को बलते देखा
चलते समय सिकन्दर-से विजयी को कर मलते देखा

सबने देकर प्राण मौत की कीमत जानी परदेशी
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी

रोते जन की अनित्यता पर सभी विश्व को छोड़ चले
कुछ तो चढ़े चिता के रथ पर, कुछ कब्रों की ओर चले
रुके न पल-भर मित्र, पुत्र माता से नाता तोड़ चले
लैला रोती रही किन्तु, कितने मजनू मुँह मोड़ चले

जीवन का मधुमय उल्लास
औ' यौवन का हास-विलास
रूप-राशि का यह अभिमान
एक स्वप्न है, स्वप्न अजान

मिटता लोचन-राग यहाँ पर
मुरझाती सुन्दरता प्यारी
एक एक कर उजड़ रही है
हरी-भरी कुसुमों की क्यारी

मैं न रुकूँगा इस भूतल पर
जीवन, यौवन, प्रेम गँवाकर
वायु, उड़ाकर ले चल मुझको
जहाँ-कहीं इस जग से बाहर

मरते कोमल वत्स यहाँ बचती न जवानी परदेशी
माया के मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी

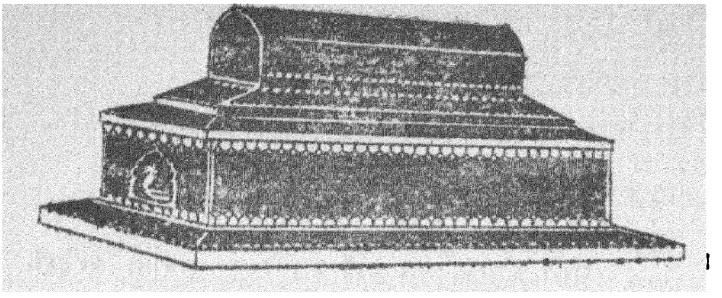

# समाधि के अंधेरे से

तुम जीवन की क्षण-भंगुरता के सकरुण आख्यान
तुम विषाद की ज्योति ! नियति की व्यंगमयी मुसकान
अरे विश्व - वैभव के अभिनय के तुम उपसंहार
मन - ही - मन इस प्रलय-सेज पर गाते हो क्या गान

तुम्हारी इस उदास लौ बीच
मौन रोता किसका इतिहास
कौन छिप क्षीण शिखा में दीप
सृष्टि का करता है उपहास

इस धूमिल एकान्त प्रान्त में नभ से बारम्बार
पूछ - पूछकर कौन खोजता है जीवन का सार
और कौन यह क्षीण-ज्योति बन कहता है चुपचाप
'अरे कहूँ क्या ? अबुध ! सृष्टि का एक अर्थ संहार'

दीप ! यह भूमि-गर्भ गम्भीर
बना है किस विरही का धाम

तुम्हारी सेज - तले दिन - रात
कौन करता अनन्त विश्राम

कौन निठुर रोती माँ की गोदी का छोड़ दुलार
इस समाधि के प्रलय - मगन में करता स्वप्न - विहार
अरे यहाँ किस शाहजहाँ की सोती है मुमताज
यहाँ छिपी किस जहाँगीर की नूरजहाँ सुकुमार

हाय रे ! परिवर्त्तन विकराल
सुनहली मदिरा है वह कहाँ
मुहब्बत की वे आँखें चार
सिहरता, शरमीला चुम्बन
कहाँ वह सोने का संसार

कहाँ मखमली हरम में आज
मधुर उठती संगीत - हिलोर
शाह की पृथुल जाँघ पर कहाँ
सुन्दरी सोती अलस - विभोर

झाँकता उस बिहिश्त में कहाँ
खिड़कियों से लुक-छिप महताब
इन्द्रपुर का वह वैभव कहाँ
कहाँ 'जिस्मे-गुल', कहाँ शराब

कहाँ नवाबी महलों का वह स्वर्गिक विभव-वितान
( नश्वर जग में अमर-पुरी की ऊषा की मुसकान )
सुन्दरियों के बीच शाहज़ादों का रूप-विलास
अरे कहाँ गुल-बदन और गुल से हँसता उद्यान

कितने शाह, नवाब जमीं में समा चुके, है याद
शरण खोजते आये कितने रुस्तम औ' सोहराब
कितनी लैला के मजनूँ औ' शीरीं के फरहाद
मरकर कितने जहाँगीर ने किया इसे आबाद

अपनी प्रेयसि के कर से पाने को दीपक-दान
इस खँडहर की ओर किया किन-किन ने है प्रस्थान
औ' कितने याकूब यहाँ पर ढूँढ़ चुके निर्वाण
तुम्हें याद है अरे नियति की व्यंगमयी मुसकान

हँसते हो, हाँ हँसो, अश्रुमय है जीवन का हास
यहाँ श्वास की गति में गाता झूम-झूमकर नाश
क्या है विश्व? विनश्वरता का एक चिरन्तन राग
हँसो, हँसो, जीवन की क्षण-भंगुरता के इतिहास

न खिलता उपवन में सुकुमार
सुमन कोई अक्षय छविमान
क्षणिक निशि का हीरक-शृंगार
ऊषा की क्षण-भंगुर मुसकान

हास का अश्रु-साथ विनिमय
यही है जग का परिवर्त्तन
मिलन से मिलता हमें वियोग
मृत्यु की कीमत है जीवन

कभी चाँदनी में कुंजों की छाया में चुपचाप
जिस 'अनार' को गोद बिठा करते थे प्रेमालाप
आज उसी गुल की समाधि को देकर दीपक-दान
व्यथित 'सलीम' लिपट ईंटों से रोते बाल-समान
यही शाप मधुमय जीवन पाने का है परिणाम
हँसो, हँसो, हाँ हँसो, नियति की व्यंग्यमयी मुसकान

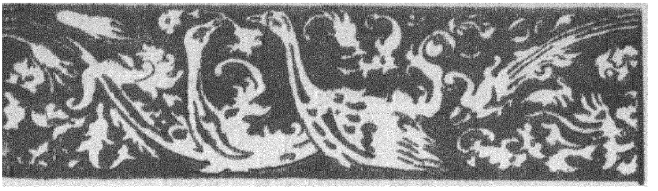

# उत्तर में

तुम कहते—तेरी कविता में
कहीं प्रेम का स्थान नहीं
आँखों के आँसू मिलते हैं
अधरों की मुसकान नहीं

इस उत्तर में सखे, कहो क्या
फिर मुझको रोना होगा
बहा अश्रुजल आज हृदय-घट
का संभ्रम खोना होगा

जीवन ही है एक कहानी
घृणा और अपमानों की
नीरस मत कहना समाधि
है हृदय-भग्न अरमानों की

तिरस्कार की ज्वालाओं में
कैसे मोद मनाऊँ मैं
स्नेह नहीं गोधूलि लग्न में
कैसे दीप जलाऊँ मैं

खोज रहा गिरि-शृंगों पर चढ़
ऐसी किरणों की लाली
जिनकी आभा से सहसा
झिलमिला उठे यह अँधियाली

किन्तु, कभी क्या चिदानन्द की
अमर विभा वह पाऊँगा
जीवन की सीमा पर भी मैं
उसे खोजते जाऊँगा

एक स्वप्न की धुँधली रेखा
मुझे खींचते जायेगी
बरस-बरस पथ की धूलों को
आँख सींचते जायेगी

मुझे मिली यह अमा गहन
चन्द्रिका कहाँ से लाऊँगा
जो कुछ सीख रहा जीवन में
आखिर वही सिखाऊँगा

हँस न सका तो क्या ? रोने में
भी तो है आनन्द यहाँ
कुछ पगलों के लिये मधुर हैं
आँसू ही के छन्द यहाँ

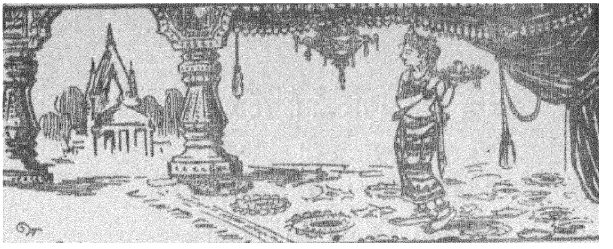

# जीवन संगीत

कंचन-थाल सजा सौरभ से
ओ फूलों की रानी
अलसाई - सी चली कहो
करने किसकी अगवानी

वैभव का उन्माद, रूप की
यह कैसी नादानी
उषे ! भूल जाना न ओस की
करुणामयी कहानी

जरा देखना गगन-गर्भ में
तारों का छिप जाना
कल जो खिले आज उन फूलों
का चुपके मुरझाना

रूप-राशि पर गर्व न करना
जीवन ही नश्वर है

छवि के इस शुभ्र उपवन में
सर्वनाश का घर है

सपनों का यह देश सजनि
किसका क्या यहाँ ठिकाना
पाप-पुण्य का व्यर्थ यहाँ
बुनते हम ताना - बाना

प्रलय-वृन्त पर डोल रहा है
यह जीवन दीवाना
अरे मौत का निःश्वासों से
होगा मोल चुकाना

सर्वनाश के अट्टहास से
गूँज रहा नभ सारा
यहाँ तरी किसकी छू सकती
वह अमरत्व-किनारा

एक एक कर डुबो रहा
नावों को प्रलय अकेला
और इधर तट पर जुटता है
वैभव-मद का मेला

सृष्टि चाट जाने को बैठी
निर्भय मौत अकेली

जीवन की नाटिका सजनि ! है
जग में एक पहेली

यहाँ देखता कौन कि यह
नत-मस्तक, वह अभिमानी
उठती एक हिलोर, डूबते
पंडित औ' अज्ञानी

यह संग्रह किस लिये ? हाय
इस जग में क्या अक्षय है
अपने क्रूर करों से छूता
सबको यहाँ प्रलय है

लो, वह देखो, वीर सिकन्दर
सारी दुनिया छोड़
दो गज जमीं ढूँढने को
चल पड़ा कब्र की ओर

सोमनाथ - मन्दिर का सोना
ताक रहा है राह
ओ महमूद ! कब्र से उठकर
पहनो जरा सनाह

सुनते नहीं ? रूस से लन्दन
तक की यह ललकार

बोनापार्ट ! हिलेना में
सोये क्यों पाँव पसार

और, गाल के फूलों पर क्यों
तू भूली अलबेली
बिना बुलाये ही आती
होगी वह मौत सहेली

सुन्दरता पर गर्व न करना
ओ स्वरूप की रानी
समय - रेत पर उतर गया
कितने मोती का पानी

अरथी - रथ से उतर चिता
का देखोगी संसार
जरा खोजना उन लपटों में
इस यौवन का सार

प्रिय-चुम्बित यह अधर, और
उन्नत उरोज सुकुमार सखी
आज न तो कल श्वान-शृगालों
के होंगे : आहार सखी

दो दिन प्रिय की मधुर सेज पर
कर लो प्रणय-विहार सखी

चखना होगा तुम्हें एक दिन
महाप्रलय का प्यार सखी

जीवन में है छिपा हुआ
पीड़ाओं का संसार सखी
मिथ्या - राग अलाप रहे हैं
इस तंत्री के तार सखी

जिस दिन माझी आयेगा
ले छलने को उस पार सखी
यह मोहक यौवन देना
होगा उसको उपहार सखी

जीवन के छोटे समुद्र में
बसी प्रलय की ज्वाला
अमिय यहीं है और यहीं
वह प्राण - घातिनी हाला

इस चाँदनी बाद आयेगा
यहाँ विकट अँधियाला
यही बहुत है छलक न पाया
जो अबतक यह प्याला

हरा-भरा रह सका यहाँ पर
नहीं किसी का बाग सखी
यहाँ सदा जलती रहती है
सर्वनाश की आग सखी

# सार्थकता

नन्हीं दूब ओस से भींगी, शरत्-निशा का प्रथम प्रहर है
दिशा शान्त, धरणी के उर में गूँज रहा झींगुर का स्वर है

शशि-प्रहरी आया न, अमा के
घर में चोरों की मनमानी
तारे गुपचुप झाँक रहे हैं
मेरे दिल की जली निशानी

धीरे शान्त पवन कानों में आ कहता इस दम कुछ गाओ
संध्या के उर की धड़कन में निज आहों के कम्प मिलाओ

क्या गाऊँ? बस यही कि मन की
सतह-सतह पर एक लहर है
आह-वाह जीवन से लिपटी
गीत यहाँ तृष्णा का स्वर है

गिरि को छोड़ तटी पर आते, तटी छोड़ गिरि पर चढ़ते हैं
लुढ़क-लुढ़क गिरि के ढालों पर हम यों ही आगे बढ़ते हैं

आये हैं तो खेल चलें हम
कुछ लेते कुछ देते जायें
मना मना झलहेर झाँझरी
तरी किसी विधि खेते जायें

फूलों के वन में क्या हँसना ? क्या शूलों के पथ पर रोना
रहे नियम हो जो, अच्छा है उनका लेना अपना खोना

आया हूँ तेरी घाटी में
जग ! मेरे साँचे में ढल जा
समय नहीं ? तो प्रखर धार में
मिलने को खुद हृदय ! पिघल जा

जो था उसको भूल आज तो तेरे रंगों से मन धो लूँ
आगे जो हूँगा सो हूँगा, लेकिन अभी तुम्ही - सा हो लूँ

रोते - गाते नाच नचाते
भावुक यहाँ, वहाँ निर्मोही
उछल कूद चुटकियाँ बजाते
चल खँजरी ठोंकते बटोही

अभी रात है, समय शान्त है, चारों ओर तिमिर का घेरा
'कोरस' गा वन्दन करने को आयेगा फिर कभी सवेरा

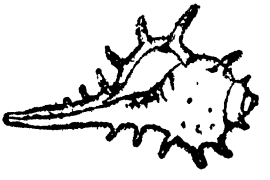

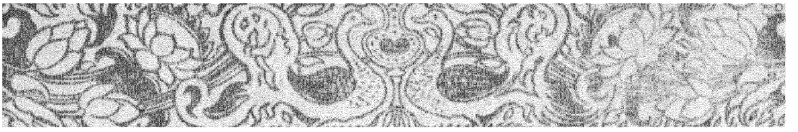

# प्रेम का सौदा

सत्य का जिसके हृदय में प्यार हो
एक पथ, बलि के लिये तैयार हो

फूँक दे सोचे बिना संसार को
तोड़ दे मँझधार जा पतवार को

कुछ नई पैदा रगों में जाँ करे
कुछ अजब पैदा नया तूफाँ करे

हाँ, नई दुनिया गढ़े अपने लिये
रैन-दिन जागे मधुर सपने लिये

बे-सरो-सामाँ रहे, कुछ गम नहीं
कुछ नहीं जिसको उसे कुछ कम नहीं

प्रेम का सौदा बड़ा अनमोल रे
निःस्व हो यह मोह-बन्धन खोल रे

मिल गया तो प्राण में रस घोल रे
पी चुका तो मूक हो मत बोल रे

प्रेम का भी क्या मनोरम देश है
जी उठा जिसका जलन निःशेष है

जल गये जो-जो लिपट अंगार से
चाँद बन वे ही उगे फिर क्षार से

प्रेम की दुनिया बड़ी ऊँची बसी
चढ़ सका आकाश पर विरला यशी

हाँ, शिरिष के तन्तु का सोपान है
भार का पन्थी! तुम्हें कुछ ज्ञान है

है तुम्हें पाथेय का कुछ ध्यान भी
साथ जलने का लिया सामान भी

बिन मिटे जल-जल बिना हल्का बने
एक पद रखना कठिन है सामने

प्रेम का उन्माद जिन-जिनको चढ़ा
मिट गये उतना नशा जितना बढ़ा

मर-मिटो यह प्रेम का शृंगार है
बेखुदी इस देश में त्योहार है

खोजते-ही-खोजते जो खो गया
चाह थी जिसकी वही खुद हो गया

जानती अन्तर्जलन क्या कर नहीं
दाह से आराध्य भी सुन्दर नहीं

'प्रेम की जय' बोल पग - पग पर मिटो
भय नहीं, आराध्य के मग पर मिटो

हाँ, मजा तब है कि हिम रह - रह गले
वेदना हर गाँठ पर धीरे जले

एक दिन धधको नहीं, तिल - तिल जलो
नित्य कुछ मिटते हुए बढ़ते चलो

पूर्णता पर आ चुका जब नाश हो
जान लो, आराध्य के तुम पास हो

आग से मालिन्य जब धुल जायगा
एक दिन परदा स्वयं खुल जायगा

❀ ❀ ❀ ❀

आह ! अब भी तो न जग को ज्ञान है
प्रेम को समझे हुए आसान है

फूल जो खिलता प्रलय की गोद में
ढूँढ़ते फिरते उसे हम मोद में

बिन बिंधे कलियाँ हुईं हिय - हार क्या
कर सका कोई सुखी हो प्यार क्या

प्रेम - रस पीकर जिया जाता नहीं
प्यार भी जीकर किया जाता कहीं

मिल सके निज को मिटा जो राख में
वीर ऐसा एक कोई लाख में

भेंट में जीवन नहीं तो क्या दिया
प्यार दिल से ही किया तो क्या किया

चाहिये उर-साथ जीवन-दान भी
प्रेम की टीका सरल बलिदान ही

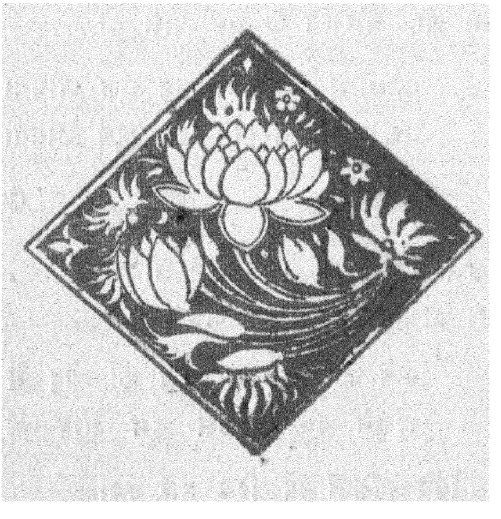

# वैभव बना समाधि धूल

हँस उठी कनक-प्रान्तर में
जिस दिन फूलों की रानी
तृण पर मैं तुहिन-कणों की
पढ़ता था करुण कहानी

जब तक न समझ पाई तू
मादकता इस मधुवन की
उड़ गई अचानक तनु से
क्षणभंगु सुरभि यौवन की

थी बाट पूछती कोयल
ऋतुपति के कुसुम-नगर की
कोई सुधि दिला रहा था
तब कलियों को पतझर की

वैभव की मुसकानों में
थी छिपी प्रलय की रेखा
जीवन के मधु - अभिनय में
बस, इतना ही भर देखा

प्रिय से लिपटी सोई थी
तू भूल सकल सुधि तन की
तब मौत साँस में गिनती
थी घड़ियाँ मधु - जीवन की

निर्भय विनाश हँसता था
सुख-सम्पति के कण - कण में
फूलों की लूट मची थी
माली - सम्मुख उपवन में

माताएँ अति ममता से
अंचल में दीप छिपाती
थीं घूम रही आँगन में
अपनी सुख पर इतराती

उस ओर गोद से छिनकर
फूलों का शव जाता था
पर राजदूत आँसू पर
कुछ तरस नहीं खाता था

धुल रही कहीं बालाओं
के मव सुहाग की लाली
थी सूख रही असमय ही
कितने तरुओं की डाली

मैं ढूँढ़ रहा था आकुल
जीवन का कोना-कोना
पाया न कहीं कुछ, केवल
किस्मत में देखा, रोना

कलिका से भी कोमल पद
हो गये वन्य - मगचारी
थे माँग रहे मुकुटों में
भिक्षा, नृप बने भिखारी

उन्नत शिर विभव-भवन के
चूमते आज धूलों को
खो रही सैकतों में सरि
तज चली सुरभि फूलों को

है भरा समय-सागर में
जग की आँखों का पानी
अंकित है इन लहरों पर
कितनों की करुण कहानी

बीते वैभव के कितने
सपने इसमें उतराते
जाने इसके गह्वर में
कितने निज राग गुँजाते

अरमानों के ईंधन में
ध्वंसक ज्वाला सुलगाकर
कितनों ने खेल किया है
यौवन का चिता बनाकर

दो गज झीनी कफनी में
जीवन की प्यास समेटे
सो रहे कब्र में कितने
तनु से इतिहास लपेटे-

कितने उत्सव - मन्दिर पर
जम गई घास औ' काई
रजनी - भर जहाँ बजाते
झींगुर अपनी शहनाई

यह नियति - गोद में देखो
मोगल - गरिमा सोती है
यमुना - कछार पर बैठी
विधवा दिल्ली रोती है

खो गये कहाँ भारत के
सपने वे प्यारे - प्यारे
किस गगनाङ्गण में डूबे
वह चन्द्र और वे तारे

जय - दीप्ति कहाँ अकबर के
उस न्याय-मुकुट-मणिमय की
छिप गई झलक किस तन में
मेरे उस स्वर्ण - उदय की

वह मादक हँसी विभव की
मुरझाई किस अंचल में
यमुने ! अलका वह मेरी
डूबी क्या तेरे जल में

मेरा अतीत वीराना
भटका फिरता खँडहर में
भय उसे आज लगता है
आते ही अपने घर में

बिजली की चमक - दमक से
अतिशय घबराकर मन में
वह जला रहा टिमटिम-सा
दीपक झंझाड़ विजन में

दिल्ली ! सुहाग की तेरे
बस, है यह शेष निशानी
रो - रो पतझड़ की कोयल
उजड़ी दुनिया की रानी

कह, कहाँ सुनहले दिन वे
चाँदी - सी चकमक रातें
कुंजों की आँख - मिचौनी
हैं कहाँ रसीली बातें

साकी की मस्त उँगलियाँ
अलसित आँखें मतवाली
कम्पित, शरमीला चुम्बन
है कहाँ सुरा की प्याली

गूँजतीं कहाँ कक्षों में
कड़ियाँ अब मधु गायन की
प्रिय से अब कहाँ लिपटती
तरुणी प्यासी चुम्बन की

झाँकता कहाँ उस सुख को
लुक छिप विधु वातायन से
फिर घन में छिप जाता है
मादकता चुरा अयन से

वे घनीभूत गायन - से
अब महल कहाँ सोते हैं
वे सपने अमर कला के
किस खँडहर में रोते हैं

वह हरम कहाँ मुगलों की
छवियों की वह फुलवारी
है कहाँ विश्व का सपना
वह नूरजहाँ सुकुमारी

स्वप्निल विभूति जगती की
हँसता यह ताजमहल है
चिन्तित मुमताज - विरह में
रोता यमुना का जल है

ठुकरा सुख राजमहल का
तज मुकुट विभव-जल-सींचे
वह शाहजहाँ सोते हैं
अपनी समाधि के नीचे

कैसे श्मशान में हँसता
रे ताजमहल अभिमानी
दम्पति की इस बिछुड़न पर
आता न आँख में पानी

तू खिसक, भार से अपने
ताज को मुक्त होने दे
लिपटा प्रिय की तुरबत से
पल - भर उसको रोने दे

किस - किसके हित मैं रोऊँ
पूजूँ किसको दृगजल से
सबको समाधि ही प्यारी
लगती है यहाँ महल से

तज कुसुम-सेज, निज प्रिय का
परिरम्भण - पाश छुड़ाकर
कुछ सुन्दरियाँ सोई हैं
वह उधर कब्र में जाकर

जिनपर झाड़ी - झुरमुट में
खरगोश खुरच बिल करते
निशि-भर उलूक गाते औ'
झींगुर अपना स्वर भरते

चुपके गंभीर निशा में
दुनिया जब सो जाती है
तब चन्द्र - किरण मलयानिल
को साथ लिये आती है

कहती—"सुन्दरि ! इस भू पर
फिर एक बार तो आओ
नीरस जग के कण-कण में
माधुरी - स्रोत सरसाओ"

तब कब्रों के नीचे से
कोई स्वर यों कहता है
"चंद्रिके ! कहाँ आई है
क्यों अनिल यहाँ बहता है

"वैभव - मदिरा पी - पीकर
हो गई बिसुध मतवाली
तो भी न कभी भर पाई
जीवन की छोटी प्याली

"इस तम में निज को खोकर
मैं उसको भर पाई हूँ
छेड़ती मुझे क्यों अब तू
तेरा क्या ले आई हूँ"

उस ओर जहाँ निर्जन में
कब्रों का बसा नगर है
ढह एक राजगृह सुन्दर
बन गया शून्य खँडहर है

उस भग्न महल के उर में
विधवा - सी सुषमा बसती
टूटे - फूटे अंगों में
संध्या-सी - कला बिहँसती

पावस ने उसे लगा दी
विधवा - चन्दन - सी काई
जम गये कहीं वट, पीपल
कुछ घास कहीं उग आई

नीरव निशि में विधु आकर
किरणों से उसे नहाता
प्रेयसि - समाधि पर चुपके
प्रेमी ज्यों अश्रु बहाता

उस क्षण उसके आनन पर
सुषमा सजीव खिल आती
उर की कृतज्ञता आँसू
बन दूबों पर छा जाती

मूर्च्छित स्वर एक विजन से
उठ टकराता अम्बर में
गूँजता क्षीण मृत - स्वर - सा
क्रन्दन कोई खँडहर में

जो कह जाता–"छवि पर मत
भूलो, जीवन नश्वर है
वैभव के ही उपवन में
उस सर्वनाश का घर है"

तृण पर जब ओस - कणों को
ऊषा रँगने आती है
सुख, सौरभ, श्री, सोने से
जगती जब भर जाती है

वृद्धा तब एक यहाँ तक
आती कुटीर से चलके
जिसके सम्मुख बीते हैं
स्वर्णिम दिन भग्न महल के

अपलक उदास आँखों से
विस्मित भूली अपनेको
खोजती भग्न खँड़हर में
वह गत वैभव सपने को

सोचती—"राज - सिंहासन
उस ऊँचे टीले पर था
उस ताल-निकट हय, गज थे
रानी का महल उधर था"

"थीं सिंह-द्वार हो आतीं
सेनाएँ विजय - समर से
उत्सव करने उस थल पर
आते थे लोग नगर से"

तूफान एक उठ जाता
इतने में उसके मन में
वह मन - ही - मन रोती है
छा जाते अश्रु नयन में

क्या कहूँ शून्य निशि रोती
सुन कितनी करुण पुकारें
संस्मृति ले सिसक रही हैं
कितनी सुनसान मजारें

जगती की दीन दशा पर
रोते निशीथ में तारे
सिसका फिरता सूने में
मलयानिल सरित-किनारे

रोता भावुक मन मेरा
कैसे इसको बहलाऊँ
पृथिवी श्मशान है सारी
तज इसे कहाँ मैं जाऊँ

है भरा विश्व-नयनों में
उन्माद प्रलय-आसव का
पद-पद पर इस मरघट में
सोता कंकाल विभव का

यह नालन्दा-खँडहर में
रो रहा मगध बलशाली
लिच्छवियों की तुरबत पर
वह कूक रही वैशाली

ढूँढ़ते चिह्न गौतम के
मन-ही-मन कुछ अकुलाती
वन-विपिन गाँव-नगरों से
गंगा है बहती जाती

कण-कण में सुप्त विभव है
कैसे मैं छेड़ जगाऊँ
बीते युग के गायन को
किसके स्वर में अब गाऊँ

लेखनी ! धीर धर मन में
अब ये आवाहन ठहरें
उठती ही इस सागर में
रहतीं सुख-दुख की लहरें

युग-युग होता जायेगा
अभिनय यह हास-रुदन का
कुछ मिट्टी से ही होगा
नित मोल मधुर जीवन का

रज-कण में गिरि लोटेंगे
सूखेंगी झिलमिल नदियाँ
सदियों के महाप्रलय पर
रोती जायेंगी सदियाँ

मैं स्वयं चिता रथ पर चढ़
निज देश चला जाऊँगा
सपनों की इस नगरी में
जाने फिर कब आऊँगा

तब कुशल पूछते मेरी
कोई राही आयेगा
नभ की नीरव वाणी में
यह उत्तर सुन पायेगा

"मैंने देखा उस अलि को
कविता पर नित मँड़राते
वैभव के कंकालों को
लखकर अवाक् रह जाते

"आजीवन वह विस्मित था
लख जग पर छाँह प्रलय की
था बाट जोहता निशि-दिन
भू पर अमरत्व-उदय की

"पर स्वयं एक दिन वह भी
हो गया विलीन अनल में
वह अब सुख से सोता है
प्रभु के शाश्वत अंचल में"

सुन इसे सिहर जायेगा
पल-भर उस राही का मन
ताकेगा वह ज्यों नभ को
छलकेंगे त्यों आँसू-कण

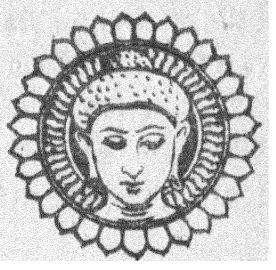

## प्रथम संस्करण पर कुछ महत्त्वपूर्ण सम्मतियाँ

"कविताओं को पढ़कर हम भूमिका-लेखक ( श्रीमाखनलालजी चतुर्वेदी ) की इस बात से सहमत हैं कि 'दिनकर' से इतिहास अपनी सम्पूर्ण वेदनाओं को लेकर बोलता है। 'दिनकर' जी की कविता में एक विशेषता और दिखाई पड़ती है—वह है कवि का प्राकृतिक सौन्दर्य की ओर झुकाव। हमारी वर्त्तमान कविता, हर्ष की बात है, अब दूसरे अलंकारों से अपने को हल्का कर, निर्झरिणी में नहाकर वनफूलों से अपना शृङ्गार करने लगी है, और 'रेणुका' के कवि को प्रकृति का यह सौन्दर्य प्यारा लगा है। 'रेणुका' की कई कविताएँ सुन्दर हुई हैं—उनमें एक मस्ती, एक तन्मयता और एक प्रवाह है। उनमें उड़ान नहीं है, पर कहीं-कहीं कलेजे की कसक और प्राणों की कुहुक है और इन सबका अर्थ यह है कि उनकी अनेक पंक्तियाँ प्राणों के भीतर के तारों को स्पर्श कर एक स्वर बजा देती हैं। एक प्रवाह में पढ़ जाने पर 'रेणुका' अपने शब्दसौष्ठव और सरसता से पाठकों को विचारने का अवसर नहीं देती। पुस्तक के चित्र अपने भावों को स्पष्ट करते हैं। माखनलालजी की इस बात से हम बहुत अंशों में सहमत हैं कि 'दिनकर' में एक अत्यन्त मीठा कवि, अपने हृदय के मस्ताने वैभव को लेकर छुपा बैठा है।"

— मासिक 'विश्वमित्र' ( कलकत्ता )

"'रेणुका' की रेणु संवेदनाशील आत्मानुभूतियों से सुरभित होकर पराग हो गई है, इसमें सन्देह नहीं। पंक्ति-पंक्ति में 'दिनकर' जी की नवोन्मेषमयी प्रतिभा प्रतिबिम्बित हो उठी है। वे अतीत गान में, कवित्व द्वारा इतिहास को सजीव करने में, जितने सफल हो सके हैं, उतने और कहीं नहीं।"

—मासिक 'चाँद' ( प्रयाग )

'रेणुका' हाथ में उठाई और पढ़ने में तल्लीन हो गया। 'दिनकर' जी की कविताओं में जिन्दादिली है, ओज है, माधुर्य है; सभी रस हैं। सबसे बढ़कर बात तो उनकी खास शैली है।"

साप्ताहिक 'विश्वमित्र' ( कलकत्ता )

"पढ़नेवाले को यह पुस्तक नवसृजन के नवोन्मेष की तीव्र गति बहुत-सा विचार और मादकता देगी। पुस्तक निस्सन्देह संग्रहणीय है।"

—साप्ताहिक 'सैनिक' ( आगरा )